इंदिरा गांधी
राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

एम एच डी - 20
भारतीय भाषाओं में दलित साहित्य

खंड

2

भारतीय दलित कहानी–I

इकाई 5
जब मैंने जाति छुपाई 5

इकाई 6
बुद्ध ही मरा पड़ा है 23

इकाई 7
कवच 37

इकाई 8
रोटले को नज़र लग गई 50

इकाई 9
गिद्धानुभूति 62

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

प्रो. ओम अवस्थी
गुरु नानक देव
विश्वविद्यालय, अमृतसर

प्रो. गोपाल राय
सी–3, कावेरी, इग्नू आवासीय
परिसर, मैदान गढ़ी,
नई दिल्ली

प्रो. नामवर सिंह
32–ए, शिवालिक अपार्टमेंट
अलकनंदा, नई दिल्ली

प्रो. नित्यानंद तिवारी (सेवानिवृत्त)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रो. निर्मला जैन (सेवानिवृत्त)
ए–21/71, कुतुब एन्क्लेव,
फेज–I, गुड़गांव, हरियाणा

प्रो. प्रेम शंकर (सेवानिवृत्त)
बी–16, सागर विश्वविद्यालय
परिसर, सागर

प्रो. मुजीब रिज़वी (सेवानिवृत्त)
220, जाकिर नगर
नई दिल्ली

प्रो. मैनेजर पाण्डेय (सेवानिवृत्त)
जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो. रामस्वरूप चतुर्वेदी
3, बैंक रोड, इलाहाबाद

प्रो. लल्लन राय (सेवानिवृत्त)
3, प्रीत विला, समर हिल, शिमला

प्रो. शिवकुमार मिश्र (सेवानिवृत्त)
एफ–17, मानसरोवर पार्क कालोनी
पंचायती हॉस्पिटल मार्ग
बल्लभ विद्यानगर, गुजरात

स्व. शिव प्रसाद सिंह
वाराणसी

प्रो. सूरजभान सिंह
आई–127, नारायणा विहार, नई दिल्ली

पाठ्यक्रम निर्माण

पाठ लेखक	इकाई	पाठ्यक्रम संयोजक एवं संपादक
डॉ. शिवदत्ता वावळकर मानविकी विद्यापीठ इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली	5 और 6	**प्रो. विमल थोरात** मानविकी विद्यापीठ इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली
डॉ. मेनका श्रीवास्तव एस.क्यू.41, मुनिरका विहार नई दिल्ली	7	
हरेश परमार मानविकी विद्यापीठ इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली	8	
डॉ.सूरज बड़त्या हिन्दी विभाग, दयालबाग एज्यूकेशनल इंस्टीटयूट आगरा, उ. प्र.	9	**(इकाई 7 और 8 का संशोधन प्रो. विमल थोरात)**

पाठ्यक्रम निर्माण एवं संपादन सहयोग	आवरण चित्रकार	सचिवालयी सहयोग
डॉ. शिवदत्ता वावळकर आर.टी.ए., मानविकी विद्यापीठ इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली	**सवी सावरकर** नई दिल्ली	**मिथिलेश प्रसाद/कौशल्या सैनी** मानविकी विद्यापीठ इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली

मुद्रण निर्माण

सी. एन. पाण्डेय
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली

जुलाई, 2014

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2014

ISBN-978-81-266- 6781-9

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफ (मुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के बारे में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली-110 068 से प्राप्त की जा सकती है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से प्रो. सुनैना कुमार, निदेशक (मानविकी विद्यापीठ) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

लेजर टाइप सेटिंग : राजश्री कम्प्यूटर्स, वी–166ए, भगवती विहार, (नजदीक सेक्टर 2 द्वारका), उत्तम नगर, नई दिल्ली–59

मुद्रक : गीता ऑफसेट प्रिंटर्स प्रा. लि., सी–90, ओखला फेस–1, नई दिल्ली–110020

खंड परिचय

एम.एच.डी. 20 'भारतीय भाषाओं में दलित साहित्य' इस पाठयक्रम का यह द्वितीय खंड 'भारतीय दलित कहानी–I' है। इस खंड के अंतर्गत भारतीय भाषाओं में लिखित, विशेषतः मराठी और गुजराती के प्रतिनिधिक कहानीकारों की कहानियों का अध्ययन करना है। मराठी और गुजराती कहानी के अध्ययन से आप दलित कहानी का स्वरूप, रचना–विधान, संवेदना और कहानी लेखन के सामाजिक–सांस्कृतिक सरोकारों को समझ सकेंगे। दलित कहानीकारों की वैचारिकी और प्रतिबद्धता को भी जान सकेंगे। इस खंड में कुल पांच इकाईयाँ है–

इकाई 5 जब मैंने जाति छुपाई

इकाई 6 बुद्ध ही मरा पड़ा है

इकाई 7 कवच

इकाई 8 रोटले को नजर लग गई

इकाई 9 गिद्धानुभुती

खंड की इकाई 5 मराठी के प्रसिद्ध कहानीकार बाबुराव बागूल की **'जब मैंने जाति छुपाई'** कहानी पर केंद्रित है। इस कहानी पर दीर्घकाल तक वैचारिक बहसे हुईं और मराठी साहित्य में कहानी आलोचना के लिए प्रचलित परंपरागत मानक बदल गए। बाबुराव बागूल की साहित्य के क्षेत्र में उपस्थिति और उनके वैचारिक सरोकारों के परिणामस्वरूप दलित साहित्य को परखने के लिए नये आलोचनात्मक प्रतिमान स्थापित हुए थे। दलित साहित्य में यह कहानी एक मिल के पत्थर के रूप में साबित हुई। इस इकाई में 'जब मैंने जाति छुपाई' कहानी के विभिन्न पहलुओं को समझना है। कहानी के अध्ययन से आप दलित जीवन के संघर्ष, वेदना, विद्रोह और परिवर्तनकामी विचारों से परिचित होंगे।

खंड की इकाई 6 मराठी दलित साहित्य के शीर्षस्थ रचनाकार और दलित पैंथर आंदोलन के प्रमुख कार्यकर्ता अर्जुन डांगळे की **'बुद्ध ही मरा पड़ा है'** कहानी पर केंद्रित है। यह कहानी दलित आंदोलन के भीतर उभरे अंतर्विरोध और शिक्षित दलित युवाओं के संघर्ष को समझने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर के बाद दलित समाज के आपसी कलह और वैचारिक मतभेद सतह पर आने लगे थे। इन स्थितियों से उभरने के लिए अर्जुन डांगळे ने सतत प्रयास किये। उन्होंने 'बुद्ध ही मरा पड़ा है' कहानी के द्वारा दलित समाज के अवसरवादी चरित्रों की आलोचना की है। युवा वर्ग की ज्ञानात्मक संवेदना और सामाजिक परिवर्तन के सरोकारों की चर्चा की है। इसे कहानी के अध्ययन एवं विश्लेषण से समझ सकेंगे।

खंड की इकाई 7 मराठी की ही प्रसिद्ध लेखिका उर्मिला पवार की **'कवच'** कहानी पर केंद्रित है। 'कवच' कहानी में दलित स्त्री के ृोषण और उस पर होने वाले सामाजिक एवं मानसिक आघातों का चित्रण है। इसमें दलित बच्चे की आशा–आकांशा और माँ के शोषण को देखते हुए होने वाली आंतरिक वेदना को भी मुखर किया गया है। पितृसत्तात्मक समाज में होने वाले शोषण के बावजूद दलित स्त्री किस तरह संघर्ष करती है और उसकी सामाजिक परिवर्तन के आंदोलन में किस तरह महत्वपूर्ण भागीदारी रही है, इसका विश्लेषण इस इकाई में किया गया है। इस इकाई के अध्ययन से आप जातिदंश की वेदना और उसके खिलाफ स्त्री द्वारा प्रस्तुत प्रतिरोध के स्वरों को समझ सकेंगे।

खंड की इकाई 8 गुजराती दलित साहित्य के प्रसिद्ध रचनाकार जोसेफ मेकवान की **'रोटले को नजर लग गई'** कहानी पर केंद्रित है। मराठी के बाद गुजराती में तेजी से उभरे दलित साहित्य में कहानी लेखन महत्त्वपूर्ण माना जाता है। गुजराती दलित कहानीकारों ने अपने सृजन, वैचारिकी और प्रतिबद्धता से गुजराती के समग्र साहित्य को एक नई दिशा दी है। इस इकाई में गुजराती कहानी का स्वरूप, संवेदना और सामाजिक महत्त्व समझाने के साथ–साथ कहानी में अभिव्यक्त विचारों को विश्लेषित किया है। 'रोटले को नजर लग गई' कहानी में निम्नस्तरीय दलित जातियों के बच्चों के साथ किये जाने वाले घृणास्पद व्यवहार और अमानवीय स्थितियों को अभिव्यक्त किया है। इस इकाई के अध्ययन से आप मानवीय गरिमा से युक्त जीवन जीने के लिए आवश्यक मूल्यों की पहचान कर सकेंगे।

खंड की इकाई 9 गुजराती दलित साहित्य के ही चर्चित लेखक दशरथ परमार की **'गिद्धानुभुती'** कहानी पर केंद्रित है। यह कहानी अपने कथानक, शिल्प और चेतना के स्तर पर विशेष महत्त्व रखती है। इसमें भारतीय समाज के अनेक बिम्ब दलित चेतना के साथ अभिव्यक्त हुए है। समाज में जातिव्यवस्था किस तरह पग–पग पर दलित समाज के लिए अभिशाप बन चुकी है, इसका प्रतीकात्मक एवं आलोचनात्मक विश्लेषण कहानी में प्रस्तुत हुआ है। इस इकाई के अध्ययन एवं विश्लेषण से आप गुजराती समाज के भीतर व्याप्त वर्ण एवं जाति श्रेष्ठता के पहलुओं से परिचित होंगे।

इस सम्पूर्ण खंड के महत्वपूर्ण प्रश्न अंत में दिये गए हैं। साथ ही उपयोगी पुस्तकों की सूची दी है। संभव हो तो आप इन पुस्तकों का अध्ययन भी कीजिए, इससे आप को अध्ययन में और अधिक सहायता मिलेगी।

इकाई 5 जब मैंने जाति छुपाई

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 मराठी दलित साहित्य आंदोलन में बाबुराव बागूल का स्थान

5.3 बाबुराव बागूल : जीवनवृत्त एवं लेखन परिचय

5.4 बाबुराव बागूल : लेखन की वैचारिकी

5.5 'जब मैंने जाति छुपाई' कहानी की कथावस्तु : सामाजिक यथार्थ एवं दलितों की संघर्ष-चेतना

5.6 अनुभवात्मक संवेदना और सामाजिक सच्चाई का दस्तावेज

5.7 वेदना और विद्रोह का मूल्यात्मक बोध

5.8 सारांश

5.0 उद्देश्य

एम.एच.डी. 20, खंड 2 की इस इकाई के अंतर्गत आप बाबुराव बागूल की बहुचर्चित कहानी 'जब मैंने जाति छुपाई' का अध्ययन करेंगे। साहित्य में परंपरागत सौन्दर्य के कलावादी मानदंड तथा रसास्वादन की कसौटी को स्वीकार करने की बजाए मनुष्य केन्द्रित जीवनवादी दृष्टि को विकसित करना, सामाजिक बदलाव की माँग तथा जीवन-संघर्ष का हू-ब-हू यथार्थ प्रस्तुत करना दलित साहित्य का प्रमुख स्वर रहा है। सामाजिक जीवन में दलितों के उत्पीड़न, शोषण तथा गुलामी के बंधनों से मुक्ति की आकांक्षा दलित कहानी सृजन का उद्देश्य रहा है। भारतीय समाज के सबसे उपेक्षित और वंचित दलित वर्ग के प्रति देखने का तथाकथित सभ्य समाज का दृष्टिकोण समाज परिवर्तन की प्रक्रिया में भी जातीय मानसिकता ग्रस्त रहा है, उसे बदलने की जरूरत है। दलित वर्ग के जीवन सरोकारों को मानवीयता की दृष्टि से देखना चाहिए। इस तरह का उद्देश्य लिए मराठी में विकसित दलित लेखन के कथा-परिदृश्य को बाबुराव बागूल के लेखन और स्वतंत्र दलित सैद्धान्तिकी ने समृद्ध किया है। बागूल ने 'जब मैंने जाति छुपाई' कहानी के सृजन से मराठी ललित साहित्य के समक्ष तत्कालीन समय में एक ऐसा नया अनुभव विश्व उपस्थित किया था जिससे साहित्य के आलोचनात्मक प्रतिमानों के लिए चुनौतियाँ खड़ी हुई थी। आइए, इन्हीं कुछ मुद्दों के विशिष्ट सन्दर्भों में 'जब मैंने जाति छुपाई' कहानी का अध्ययन करते हैं। कहानी के अध्ययन के बाद आप परिचित होंगे -

- भारतीय सभ्यता के सामाजिक यथार्थ में दलित जीवन संवेदना से;
- महाराष्ट्र में सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से दलितों में उभरी संघर्ष चेतना की साहित्यिक अभिव्यक्ति से;
- मराठी ललित साहित्य के कलावादी सौन्दर्यशास्त्रीय प्रतिमानों के बरक्स स्थापित हुए दलित लेखन के मनुष्य केन्द्रीत जीवनवादी दृष्टि और मानवतावादी मूल्य-प्रतिमानों से;

- दलित साहित्य में बाबुराव बागूल की लेखनधर्मिता और स्वतंत्र दलित सैद्धान्तिकी से;
- मराठी दलित साहित्य के मूल्य वेदना और विद्रोह की अभिव्यक्ति से;
- मराठी दलित साहित्य में बाबुराव बागूल की महत्वपूर्ण भूमिका से;
- 'जब मैंने जाति छुपाई' की कथावस्तु और दलित चेतना के विस्तार से;
- 'जब मैंने जाति छुपाई' कहानी के अनुभवात्मक परिदृश्य से;
- दलित वर्ग के मानस में उभरी दो प्रवृत्तियाँ - प्रत्यक्ष विद्रोही संघर्ष और वैचारिक संघर्ष की स्थितियों से;
- सवर्ण अवसरवादिता के उन चरित्रों से, जो वर्गीय मान्यताओं में मजदूर बनकर जीता है लेकिन सामाजिक जीवन में जातीय मानिसकता की ग्रंथियों से ग्रस्त है। सवर्ण मजदूरों द्वारा किये जाने वाले दोहरे व्यवहारों में शोषित दलित अस्मिता के सूक्ष्म आयामों से आप परिचित हो सकेंगे;
- दलित व्यक्ति द्वारा अपनी जाति छुपाकर जीवन व्यतीत करते समय मन में निर्मित अपराधबोध, अर्न्तद्वंद्व एवं त्रासदी-यथार्थ को आप समझ सकेंगे; और
- सामाजिक न्याय और मानवीय अधिकारों के लिए संघर्षरत दलित वर्ग की चेतना और अस्मिता की वास्तविकता से आप परिचित हो जाएंगे।

5.1 प्रस्तावना

मराठी भाषा में गौतम बुद्ध, महात्मा फुले और डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर के विचार-दर्शन और आंदोलनों की प्रेरणा से स्वतंत्र रूप में 'दलित साहित्य' का अभ्युदय हुआ। मनुष्य केन्द्रित जीवन संवेदना, ज्ञानात्मक वैचारिकी और जीवन संघर्ष की क्रांतिकारी अभिव्यक्ति दलित साहित्य में हुई है। इस दलित साहित्य आंदोलन को दिशा देने वाले साहित्यकारों में बाबुराव बागूल सबसे सशक्त, क्रांतिकारी एवं प्रसिद्ध रचनाकार है। उन्होंने बुद्ध, फुले, मार्क्स और डॉ. आंबेडकर के विचार-दर्शन और ज्ञान-मीमांसा को आत्मसात् करते हुए दलित लेखन की व्यापक पृष्ठभूमि तैयार की। मराठी भाषा में बागूल की हुई साहित्यिक अभिव्यक्ति, जीवनानुभव केन्द्रीत लेखन, मानवतावाद की साहित्यिक परिकल्पना और सामाजिक प्रतिबद्धता मराठी ललित साहित्य जगत में एक नया अनुभव था। जिसके परिणामस्वरूप मराठी साहित्य में चली आ रही कलावादी मान्यताएँ और सौन्दर्यशास्त्रीय कल्पित रूपों, मिथकों प्रतीकों की धारणाओं को बदलना पड़ा। मराठी साहित्य के परंपरागत सौन्दर्यशास्त्रीय मानदंडों के असफल होने की इस स्थिति में दलित साहित्य को परखने के लिए सौन्दर्य के नये प्रतिमान स्थापित हुए। वेदना, करुणा, विद्रोह, जीवन-यथार्थ, जीवन-संघर्ष, आत्मसम्मान और अस्मिता, मनुष्य की महत्ता और मानवतावाद के नये तत्व दलित साहित्य ने विकसित किये। मराठी साहित्य में दलित हस्तक्षेप के कारण 'जीवनवादी दृष्टि' और 'मानवीय मूल्यों' को केन्द्र में रखकर साहित्य का उद्देश्य, सामाजिक प्रतिबद्धता और लेखन के विकास क्रम का जो नया पर्व आरंभ हुआ था उसे विश्वव्यापक दृष्टिकोण से विस्तारित करने का श्रेय बाबुराव बागूल नामक साहित्यकर्मी को दिया जाता है।

बाबुराव बागूल सृजित कथा-साहित्य दलित वेदना, जीवनानुभव यथार्थ और दलित चेतना का विस्तार हैं। इस दृष्टि से उनकी कहानी 'जब मैनें जाति छुपाई' अत्यंत प्रसिद्ध रही है। कहानी का सृजन दलित चरित्रों के जीवन संघर्ष की दो प्रवृत्तियों को केन्द्र में रखकर

हुआ है। एक प्रत्यक्ष विद्रोही संघर्ष और दूसरी प्रवृत्ति मानवीय मूल्यों के प्रतिष्ठा के लिए जातिव्यवस्था के खिलाफ वैचारिक स्तर पर संघर्ष, सामाजिक न्याय और समता के लिए मनुष्य के श्रेठत्व को स्वीकार करने वाले दलित को जातीय-भेदभाव और मानसिक उत्पीड़न से गुजरना पड़ता है। दलित व्यक्ति को मजबूरी में जाति छुपाने के कारण जिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है उन स्थितियों में उभरने वाली संवेदनाओं को 'जब मैंने जाति छुपाई' कहानी में चित्रित किया गया है। सामाजिक व्यवस्था में दलित अंततः दलित ही रहता है, चाहे वह अपनी कर्म-कुशलता से कितना भी श्रेष्ठ बने। उसे धर्म-दर्शन, जातीय अहं की वजह से उच्च वर्ण-वर्गीय समाज के शोषण का शिकार होना पड़ता है। शोषण की इस त्रासदी में वह धर्म-सत्ता, वर्ण-व्यवस्था और सामाजिक रूढ़ियों के खिलाफ विद्रोह करने की स्थिति में पहुँच जाता है। समाज के जातिवादी चरित्रों की अहंवादी मानसिकता और शोषण की प्रवृत्ति वर्तमान समय में जिन रूपों में जीवित है, इसकी कलात्मक एवं यथार्थ अभिव्यक्ति बाबुराव बागूल ने 'जब मैंने जाति छुपाई' में की है। आइए, इस कहानी का अध्ययन बाबुराव बागूल का लेखन कार्य, सैद्धान्तिक विचार तथा जीवन संदर्भ-यथार्थ के आलोक में करते हैं।

5.2 मराठी दलित साहित्य आंदोलन में बाबुराव बागूल का स्थान

महाराष्ट्र में दलित साहित्य का अभ्युदय महात्मा फूले और डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर के विचार, दर्शन और आंदोलन की प्रेरणा लेकर हुआ। इस दलित साहित्य आंदोलन के इतिहास और विकास को तीन पीढ़ियों में विभाजित किया जाता है। प्रथम पीढ़ी स्वतंत्रता पूर्व डॉ. आंबेडकर के आंदोलन के समय की समकालीन लेखकों की, दूसरी डॉ. आंबेडकर के निर्वाण पश्चात् विद्रोही लेखनकर्ताओं की और दलित पैंथर के अभ्युदय और अवसान के समय से सृजनरत तीसरी पीढ़ी। इन तीन पीढ़ियों में विकसित दलित साहित्य के आंदोलन में बाबुराव बागूल का महत्वपूर्ण योगदान रहा। प्रथम पीढ़ी के दलित साहित्यिक आण्णाभाऊ साठे, शंकरराव खरात, बंधुमाधव, तु.अं.पुरोहित, म.मा.माटे आदि का साहित्य दलित जीवन की व्यथा और वेदना को अभिव्यक्ति देकर सामाजिक न्याय की दिशा में जीवनवादी दृष्टि से अग्रसर था। यद्यपि उन पर मराठी साहित्य के 'फडके खांडेकर' की सौन्दर्यशास्त्रीय कलावादी प्रवृत्तियों का भी प्रभाव बना रहा। स्वतंत्रता के बाद संयुक्त महाराष्ट्र आंदोलन में मार्क्स की विचारधारा से प्रेरित आण्णाभाऊ साठे, शाहीर अमरशेख व शाहीर गव्हाणकर जैसे प्रभावशाली लेखक मुंबई प्रान्त में मशहूर थे। उनसे बाबुराव बागूल का संपर्क रहा। इन्हीं के साथ सन् 1960 में निर्मित हुये संयुक्त महाराष्ट्र के सामाजिक और सांस्कृतिक आंदोलन में बागूल सक्रिय भी रहे हैं। इन्हीं दिनों उनके लेखन की प्रक्रिया का विकास होने लगता है।

सन् 1960 तक मराठी में दलित लेखन की पहली पीढ़ी स्थिर होने लगती है। उसी समय नामदेव ढसाळ, बाबुराव बागूल और नारायण सूर्वे का लेखन कविता, कहानी और उपन्यास के द्वारा 'विद्रोह', 'वेदना' 'मनुष्य केन्द्रित जीवन संवेदना' और 'जीवन संघर्ष-यथार्थ' की क्रांतिकारी चेतना लिए मराठी साहित्य जगत में अविष्कृत हुआ। इस समय बाबुराव बागूल की कहानियों ने मराठी साहित्य के क्षेत्र में जो हस्तक्षेप किया था, उससे निर्मित स्थितियों का अवलोकन करते हुए चंद्रकांत बांदिवाडेकर ने लिखा है -"मराठी कहानी के क्षेत्र में बाबुराव बागूल की कहानी धमाके के साथ आई, उसने न केवल दलितों की अस्मिता को जगाया बल्कि झोपड़ पट्टी के वीभत्स, विदारक और मन प्राणों को थर्रा देने वाले लेखन ने सफेदपोश वर्ग में अपराध भावना बोध को भी जगाया।"

(मराठी साहित्यः परिदृश्य - चंद्रकांत बांदिवाडेकर, पृष्ठ-131)

मराठी ललित साहित्य की पारंपरिक व्यवस्था और सौन्दर्यशास्त्रीय कलावादी मानदंडों के बरक्स हुई दलित लेखन की मानवतावादी अवधारणा में बाबुराव बागूल का विशेष योगदान रहा। स्वतंत्र रूप से दलित साहित्य आंदोलन का विकास और विस्तार सन् 1960 के बाद होता गया है। बागूल, ढसाळ, सूर्वे के लेखन में सृजित दलित जीवन यथार्थ, सामाजिक प्रतिबद्धता, सामाजिक न्याय के लिए संघर्ष, मानवीय मूल्यों की स्थापना, समता केन्द्रित मानवतावाद की परिकल्पना आदि का साहित्यिक अविष्कार उनके समकालीन दलित लेखकों में समानान्तर हुआ है। इस दूसरी पीढ़ी के दलित साहित्यकारों में बेबी कांबळे, केशव मेश्राम, प्र. ई सोनकांबळे, दत्ता भगत, म.ना.वानखेडे, भा.ल.भोळे, लक्ष्मण माने, प्रेमानंद गज्वी, राजा ढाले, भाऊ लोखंडे, गणेशराज सोनाळे, अमिताभ, वामन होवाळ, अर्जुन डांगळे आदि का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जिन्होंने कविता, कहानी, नाटक, आत्मकथा, उपन्यास, आलोचना और वैचारिक लेखन के द्वारा दलित साहित्य को समृद्ध किया है। लक्ष्मण गायकवाड, शरणकुमार लिंबाळे, अविनाश डोलस, ऋषिकेश कांबळे, लोकनाथ यशवंत, उर्मिला पवार, योगिराज वाघमारे, उत्तम कांबळे आदि की तीसरी पीढ़ी तक आते-आते दलित साहित्य में मानवतावादी विचार दर्शन का विस्तार हुआ है। जीवन के सभी क्षेत्रों में हस्तक्षेप करते हुए दलित साहित्य बीसवीं सदी में बुद्ध प्रणीत मानवीय महत्ता, म.फुले का गुलामी से मुक्ति का दर्शन और डॉ. आंबेडकर की क्रांति चेतना को केन्द्र में रखकर फलता-फूलता रहा है। दलित साहित्य का विकास प्रमुख रूप से प्रथम पीढ़ी का वेदना तत्व, द्वितीय पीढ़ी का विद्रोह और तीसरी पीढ़ियों तक बुद्ध प्रणीत मानवतावाद को स्वीकृत कर अग्रसर होता रहा है। इन तीन पीढ़ियों के विकासक्रम में बाबुराव बागूल समानान्तर लेखन करते गए। उनका साहित्यिक कर्म बुद्ध, मार्क्स, म.फूले और डॉ. आंबेडकर के दर्शन, क्रांतिकारी चेतना और सम्यक जीवनवादी दृष्टि की वैचारिकी में समृद्ध होता गया है।

5.3 बाबुराव बागूलः जीवनवृत्त एवं लेखन परिचय

बाबुराव बागूल का पूरा नाम बाबुराव रामजी बागूल है। इनका जन्म 17 जुलाई, 1930 में ग्राम विहितगांव, जिला नाशिक, महाराष्ट्र में एक 'महार' जाति के दलित परिवार में हुआ। जन्म से दलित होने के कारण गरीबी, आर्थिक अभाव, दुःख, वेदना और छुआछूत के दहकते अनुभवों को सहते हुए बचपन गुजरा। बचपन के दस साल वे अपने गाँव में माता-पिता के साथ रहे। दस साल की आयु के बाद गरीबी और अभावग्रस्तता में पारिवारिक जीवन-संघर्ष से जूझते उनके पिता ने बाबुराव को मुंबई के माटुंगा लेबर कैम्प में मौसी के पास भेजा। वहीं म्युनिसिपालिटी के स्कूल में वे जब चौथी कक्षा में थे, तब सन् 1944 में उनका विवाह 'शांताबाई' से हुआ। किशोरवय में ही पारिवारिक जीवन की जिम्मेदारी उन पर आ गई थी। ऐसे समय में भी उन्होंने अपनी शिक्षा जारी रखी। मैट्रिक तक वे पढ़ते रहे, किन्तु फेल हो गये। बेकारी और गरीबी की तीव्रता बढ़ती गई। फिर रेल सेवा ट्रेनिंग कॉलेज में दाखिला लिया और वहाँ से रेल सेवा ट्रेनिंग का कोर्स पूर्ण किया। तत्पश्चात् सन् 1955 में वे रेल वर्कशाप की नौकरी के लिए मुबंई छोड़कर सूरत (गुजरात) चले गये। सूरत में जाति-भेद के अनुभवों से पीड़ित होने की वजह से छः माह बाद नौकरी छोड़ दी और मुंबई वापिस लौट आए। मुंबई में रहते हुए साहित्य सृजन से जुड़ गये और दलित जीवन के यथार्थ को लेखन का केन्द्र बनाया। अपनी साहित्य-धर्मिता और सामाजिक प्रतिबद्धता से दलित साहित्य को दिशा देनेवाले मराठी दलित लेखकों में शीर्षस्थ आधारस्तंभ बने हुए बागूल जी का मृत्यु 26 मार्च, 2008 को हुआ।

मराठी दलित साहित्य के प्रतिष्ठित हस्ताक्षर बाबुराव बागूल की साहित्यिक यात्रा कविता, कहानी, उपन्यास और वैचारिक लेखन के द्वारा समृद्ध रहीं है। उनका समूचा लेखन बुद्ध,

मार्क्स, फुले और डॉ. आंबेडकर की वैचारिकी के परिप्रेक्ष्य में विकसित रहा है। प्रथम कविता संग्रह 'वेदाआधी तू होतास' (वेदों से पहले ही तू था) है। जिसमें वेदों के निर्माण के पहले मनुष्य का अस्तित्व रहा है। मनुष्य ने ही वेद लिखे हैं, इसलिए वेद-दर्शन प्रणीत शोषण का विरोध मनुष्य ने करना चाहिए। मनुष्य की प्रतिष्ठा और मानवता की महत्ता को स्वीकृत करना चाहिए। इस तरह की विचारोत्तेजना प्रस्तुत हुई है। कहानी के क्षेत्र में सन् 1963 में 'जेव्हा मी जात चोरली होती' (जब मैंने जाति छुपाई) और सन् 1969 में 'मरण स्वस्त होत आहे' (मृत्यु सस्ती हो रही है) संग्रह प्रकाशित हुए। इन संग्रहों की कहानियों की मूल-चेतना झोपड़पट्टियों के नारकीय जीवन में व्यथा, वेदना और सामाजिक-आर्थिक जीवन के भयावह सन्दर्भों से निर्मित है। शहरों की झोपड़पट्टियों में स्थित मजदूर वर्ग तथा दलितों के जीवन का भोगा हुआ यथार्थ कहानियों के द्वारा अभिव्यक्त हुआ है। 'सूड' बागूल का स्त्री केन्द्रित लघु उपन्यास है। जिसमें 'जानकी' नामक चरित्र द्वारा दलित स्त्री-विमर्श का आख्यान प्रस्तुत किया गया है। पितृसत्तात्मक भारतीय समाज व्यवस्था में संस्कृति रक्षणार्थ पुरुषत्व की कल्पना करने वाले स्त्री का शारीरिक और मानसिक शोषण करते हैं। उन शोषणकारी प्रवृत्तियों और पुरुष प्रधान सत्तातंत्र पर 'सूड' द्वारा बागूल ने प्रखर आघात किया है। उपन्यास के क्षेत्र में 'पावश्या', 'पाषाण', 'अघोरी', 'कोंडी', 'सरदार', 'रिपोतार्ज', 'आंबेडकर भारत भाग-1 व भाग-2' का सृजन बागूल ने किया है। 'पावश्या' सन् 1971 में 'आम्ही' नामक मासिक पत्रिका में प्रकाशित हुआ, जिसके संपादक खुद बाबुराव बागूल थे। 'पावश्या' में हिंदू-धर्म, परंपराएँ, पाप-पुण्य की मान्यताएँ, कर्म-सिद्धांत की बेड़ियों में जकड़े हुए दलितों की व्यथा-वेदना को अभिव्यक्त किया है। दलितों की व्यथा-वेदना, गरीबी, गुलामी, हीन अवस्था और त्रासदी के लिए सामाजिक व्यवस्था जिम्मेदार है। इसलिए विषमता निर्माण करने वाली सामाजिक व्यवस्था और उसके पोषणकर्ताओं के खिलाफ जाति, धर्म-परंपरा से मुक्त होकर संघर्ष करना चाहिए। इस सामाजिक यथार्थ को से 'पावश्या' उपन्यास में उजागर किया गया है। 'अलका' के दिवाली विशेषांकों में 'पाषाण' (1972), सरदार (1979) तथा 'अघोरी' यह उपन्यास का प्रकाशित हुए। 'रिपोर्ताज' अप्रैल, 1979 में 'पूर्वा' पत्रिका में छपा। सन् 2000 में प्रकाशित 'कोंडी' उपन्यास आंबेडकरवादी आंदोलन में सक्रिय ईमानदार कार्यकर्ता के अंतर्विरोधों की कहानी है। 'आंबेडकर भारत भाग-1 व भाग-2 इन उपन्यासों में ऐतिहासिक दृष्टि से डॉ. आंबेडकर के विचार दर्शन, जीवन-संघर्ष और सामाजिक आंदोलनों को चित्रित किया गया है। समता, बंधुत्व, सामाजिक न्याय के लिए बुद्ध, कबीर, फुले, डॉ. आंबेडकर आदि के द्वारा चलाये गये आंदोलनों की सफलता और असफलता का चित्रण करते हुए वर्तमान समय में संघर्षरत दलित अस्मिताओं को प्रेरणा देने का प्रयास बाबुराव बागूल करते हैं। 'लोकशाही आणि वर्णव्यवस्था' (लोकतंत्र और वर्णव्यवस्था) यह बागूल का वैचारिक लेखन संग्रह हैं। 'दलित साहित्य : आजचे क्रांतिविज्ञान' (दलित साहित्य : आज का क्रांतिविज्ञान) ग्रंथ में बागूल के लेख, आत्मकथ्य, भाषण, समीक्षाएँ और साक्षात्कार संकलित हैं। अतः दलित जीवन के बहुआयामी परिप्रेक्ष्य में बागूल ने लेखन किया है। उनकी लेखनधर्मिता, रचना प्रक्रिया दलित जीवन की पक्षधर रही है। आजीवन लेखन कर्म से जुड़े बागूल ने दलित साहित्य को तो समृद्ध किया ही है, साथ ही सम्पूर्ण मराठी साहित्य में सबसे श्रेष्ठ लेखक का स्थान भी प्राप्त किया।

5.4 बाबुराव बागूल : लेखन की वैचारिकी

'जब मैंने जाति छुपाई' कहानी का अध्ययन करने से पहले लेखक की साहित्य विषयक विचार दृष्टि और लेखन की वैचारिकी को समझना आवश्यक है। यह साहित्य आस्वादन और मूल्यांकन की महत्वपूर्ण शर्त भी रही है।

बाबुराव बागूल के लेखन का केन्द्रीय तत्व 'दलित' रहा है। उनकी विचार दृष्टि में दलित सिर्फ अछूत वर्ग नहीं है, बल्कि समाज में शोषित, उत्पीड़ित और गुलामी के बंधनों में जकड़े सभी मनुष्य हैं। सामाजिक व्यवस्था में शोषण के शिकार निम्नस्तरीय प्रत्येक स्त्री-पुरुष दलित है। उनके दाहक जीवनानुभव और संघर्षरत अस्मिताओं का यथार्थ जिस साहित्य में अभिव्यक्त होता है वह दलित साहित्य की कोटि में आता है। इस तरह की दलित शब्द की व्यापकता और दलित साहित्य विषयक स्वतंत्र विचारधारा के पक्षधर बागूल रहे हैं। वे अपने साहित्य लेखन की केन्द्रीय भूमिका स्पष्ट करते हैं 'तथागत गौतम बुद्ध, डॉ. आंबेडकर, मार्क्स और महात्मा फुले के क्रांतिकारी विचार और दर्शन मेरे लेखन के केन्द्र में रहा है (दलित साहित्य : आजचे क्रांतिविज्ञान, बाबुराव बागूल-180)।' इस तरह की वैचारिकी में बागूल ने बुद्ध, मार्क्स, फुले और डॉ.आंबेडकर के विचारों का प्रतिपादन किया है। शोषण मुक्त समाज निर्माण की दिशा में जिस तरह मार्क्सवादी दर्शन को स्वीकृत किया जाता है, उसी तरह भारतीय समाज, वर्णव्यवस्था व वर्णव्यवस्था की वैचारिकी का ज्ञान देने वाले डॉ. आंबेडकर के विचार हैं। इसलिए मार्क्स के विचारों तक सीमित न रहकर डॉ. आंबेडकर के विचारों को भी आत्मसात् करना चाहिए। भारतीय समाज के जाति-वर्गीय ढाँचे में बदलाव लाने हेतु मार्क्स-आंबेडकर के समन्वयात्मक विचारों की नई सैद्धान्तिकी बागूल ने प्रस्तुत की है। वे मार्क्स-आंबेडकर के विचारों तक ही सीमित नहीं रहते, बल्कि आंबेडकर के विचार और दर्शन की भूमिका जिस बौद्ध दर्शन और विचारों से निर्मित है, उसके प्रति आस्था प्रकट करते हैं। उनके अपने विचार हैं - 'मुझे बुद्ध अत्यंत प्रिय लगते हैं, क्योंकि मनुष्य के प्रति करुणा और मनुष्य के मूलभूत प्रश्नों को सुलझाने की प्रखर बुद्धिमता उनके पास थी। उनकी विचार दृष्टि असीम और अत्यंत भौतिकवादी थी। मनुष्य अपना दुःख-दर्द खुद ही खत्म कर सकता है।' बौद्ध दर्शन प्रेरित मानवतावाद, भौतिक प्रश्नों के प्रति सजगता और परिवर्तनशील ज्ञान-मीमांसा बागूल के व्यक्तित्व में रहीं है। वे बुद्ध दर्शन और विचारों के साथ-साथ मार्क्स के विचारों को भी स्वीकृत करते हैं। बुद्ध ने मानव कल्याण के लिये समतामूलक समाज निर्मिती की सोच दी है, तो मार्क्स ने शोषण पर निर्मित समाज रचना और अर्थव्यवस्था को बताया है। बुद्ध द्वारा प्रस्तुत की हुई मनुष्य के 'दुःख की सैद्धान्तिकी' का विस्तार आधुनिक समय तक आते-आते शोषण की सैद्धान्तिकी में प्रस्तुत करने का कार्य मार्क्स और आंबेडकर ने किया है। शोषणमुक्त समाज निर्मिति की दिशा में योगदान दिया है। इसलिए बुद्ध-मार्क्स आंबेडकर के समन्वयात्मक विचार-दर्शन को आत्मसात् करके मनुष्य जगत के प्रति आस्था प्रकट करने वाली वैचारिकी बाबुराव बागूल ने प्रस्तुत की है।

सन् 1971 में महाड़ (महाराष्ट्र) में हुए 'द्वितीय महाराष्ट्र बौद्ध साहित्य सम्मेलन' के अध्यक्ष बाबुराव बागूल थे। इस सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण में पहली बार 'दलित' शब्द का प्रयोग करते हुए बागूल ने दलित साहित्य को परिभाषित किया। दलित साहित्य 'मनुष्य' मात्र को केन्द्र में रखकर सोचता है। मनुष्य के समूह को समानता के मूल्यों के प्रति सचेत करता है। मनुष्य को ही महान मानता है। दलित साहित्य मनुष्य-मनुष्य के भीतर का द्वेष खत्म करके बन्धुत्व निर्माण करना चाहता है। दलित साहित्य मनुष्य की मुक्ति का पक्षधर है, मनुष्य की महानता मानने वाला, वंश, वर्ण और जाति श्रेष्ठत्व का कठोर विरोध करने वाला साहित्य है। (अस्मितादर्श, मार्च 1971, पृ.-43) दलित साहित्य की व्यापक दृष्टि है, वह पक्षपाती, प्रतिक्रियावादी, विषमता निर्माण करने वाला साहित्य नहीं है। दलित साहित्य मनुष्य की स्वतंत्रता, बन्धुता तथा मानवीय मूल्यों की स्थापना करना चाहता है। इस तरह बागूल ने प्रतिबद्धता से दलित सृजन को लेकर सामाजिक दायित्व का निर्वाहक करते हुए विश्वव्यापक विचार दृष्टि का परिचय दिया है।

दलित साहित्य लेखन की प्रतिबद्धता और साहित्यक सरोकारों का उद्घाटन बागूल जी ने 'दलितत्व' (दलित के मन की संवेदना) संज्ञा के आईने में किया है। मनुष्य के जीवन में 'दलितत्व' की भावना क्या है? इसे स्पष्ट करते हुए बागूल ने लिखा है - 'दलितत्व (दलित मन-संवदेना) वह है, जो स्वतंत्रता, लोकतंत्र तथा सर्वहारा वर्ग की सत्ता के समय में भी जनता के हित में होता है। उनके लिए संघर्ष करता है। मनुष्य की महत्ता, मुक्ति और मनुष्यता की दृष्टि से हमेशा संघर्षरत रहने वाला चेतना तत्व है - दलितत्व यानि सम्यक क्रांति-तत्व ((दलित साहित्य : आजचे क्रांतिविज्ञान, बाबुराव बागूल - पृ.-104-105) बागूल की इस सैद्धान्तिकी में असीम प्रेम, प्रकाशमान ज्ञान, करुणा और सामाजिक न्याय की सम्यक क्रांतिकारी चेतना का बोध है। इस दलित संवेदना और चेतना के बोध से निर्मित साहित्य ही दलित लेखकों एवं उनके लेखन की व्यापक प्रतिबद्धता को सिद्ध करता है। बागूल जी दलितत्व की अवधारणा के तहत ही दलित लेखक कौन है? और कौनसा साहित्य दलित साहित्य मानना चाहिए? इसके प्रति भी अपने विचार रखते हैं। यथा - 'जब कोई कहता है कि मैं दलित हूँ और कर्मवाद, आत्मवाद मानता हूँ, विषमता को स्वीकारता हूँ तथा वर्णानुकूल पौराणिकता की आदर्श वैचारिकता का भी समर्थक हूँ। तब वह दलित साहित्य के लिए अभिप्रेत दलित अथवा दलित साहित्यकार नहीं है। कोई दलित अगर कहे कि मैं दलित हूँ, परंतु मुझे समाजवाद स्वीकार्य नहीं है। मेरा साम्राज्यवाद तथा उनकी कार्यपद्धति, औपनिवेशिक संघर्ष, आर्थिक वर्चस्व, फॉसिज्म को कोई भी विरोध नहीं है। तब वह जो कोई इसका समर्थक है वह दलित साहित्यकार नहीं है। वह सिर्फ जाति से दलित है, आर्थिक दृष्टि से दलित है। इसलिए दलित साहित्य का 'दलित' एक वैचारिकी है। कला-साहित्य के प्रति देखने का नया दृष्टिकोण है। यह दृष्टि जो कोई भी आत्मसात् करता है, उसे जाति अथवा आर्थिक स्थिति का कोई प्रमाण देने की जरूरत नहीं है। विचार, हृदय और मानवीय करुणा उसका अपना प्रमाण है।' (द.सा.आ.क्रां.पृ.104) बागूल के इन विचारों में दलित साहित्य, साहित्यिक सरोकार और दलित साहित्य लेखन-प्रतिबद्धता की व्यापक दृष्टि मनुष्य जीवन के हित में अग्रसर दिखाई देती है। इसी व्यापक विचारधारा और संवदेनशीलता के द्वारा उनका लेखकीय कर्म विकासोन्मुख रहा है। उनके साहित्यिक विकास और साहित्यिक मूल्यों में बुद्ध, मार्क्स, फुले और डॉ. आंबेडकर के विचार-दर्शन का महत्व समानांतर रहा है। नकार, विद्रोह, दुःख की अनुभूति, मनुष्य की महत्ता, ज्ञान-विज्ञान के प्रति निष्ठा, करुणा, बंधुत्व, अनात्म-अनीश्वरवाद, वीरत्व आदि मूल्यों का सृजन बागूल के लेखन में हुआ है। अतः बागूल की वैचारिकी को ध्यान में रखते हुए 'जब मैंने जाति छुपाई' कहानी का आस्वादन करते हैं।

5.5 'जब मैंने जाति छुपाई' कहानी की कथावस्तु : सामाजिक यथार्थ एवं दलितों की संघर्ष-चेतना

कहानीकार बाबुराव बागूल ने 'जब मैंने जाति छुपाई' कहानी का सृजन समाज-जीवन की यथार्थदर्शी तीन प्रवृत्तियों के समन्वय से किया है। प्रथम प्रवृत्ति, एक युवा दलित द्वारा अपनी जाति छुपाने पर होने वाली मानसिक और बौद्धिक यंत्रणा की है। जो सामाजिक जीवन में मानसिक आघातों को सहते हुए भी नव समाज निर्मिति की दिशा में सम्यक की दृष्टि रखता है। कहानी में इस प्रवृत्ति का वाहक 'मैं' हैं। भारतीय समाज में वर्ण-धर्म संस्कारों के तहत मनुष्य के प्रति द्वेषपूर्ण व्यवहार करने वाली तथा सवर्ण अवसरवादिता की दूसरी प्रवृत्ति है। जिसके प्रतिनिधिक चरित्र रामचरण तिवारी, रणछोड़, देवजी, माताप्रसाद आदि है। तीसरा पक्ष काशीनाथ सपकाल का है। जो जाति-भेद के कारण संतप्त तथा विद्रोही बनकर प्रस्थापितों की व्यवस्था और शोषण सत्ता की वैषम्यमूलक नीतियों के खिलाफ संघर्ष करता है। जिसका संबंध आत्मसम्मान, स्वाभिमान, अस्तित्व की पहचान तथा सामाजिक न्याय के लिए संघर्षरत दलित वर्ग के जीवन सरोकारों से है। इन तीन प्रवृत्तियों के

कलात्मक समन्वय से सामाजिक यथार्थ का अन्वेषण कथाकार ने किया है। कहानी की कथावस्तु में प्रस्तुत घटना-प्रसंगों, मनोवैज्ञानिक आत्मकथ्यों, चरित्रों की संवादात्मकता के माध्यम से इसे समझने का प्रयास किया जाए।

कहानी का आरंभ कलावादी रूझान के बरक्स जीवनानुभव केन्द्रित दृष्टि से हुआ है। कथानायक 'मैं' अपने अतीत में जाति छुपाने के कारण मिली हुई बौद्धिक और मानसिक यंत्रणा के अनुभवों को याद करता है। दलित जीवन के भोगे हुये यथार्थ को मनोजगत की वेदनायुक्त संवेदनाओं से मुखर करता है। कहता है -"इस दुर्भाग्यपूर्ण देश में दलित बिरादरी में गलती से भी जन्म नहीं लेना चाहिए। क्योंकि यहाँ इस कदर यन्त्रणा और अवमानना सहनी पड़ती है कि उससे मर जाने का दिल करता है। जहर खाकर जिन्दगी के खोल पर पर्दा डालने की इच्छा बलवती हो जाती है और बची रह जाती है पाशवी क्रूर खीझ और घृणा।" भारतीय समाज का यह कठोर यथार्थ है कि समाज में दलित व्यक्ति का जन्मना दलित होना ही उपेक्षा, अवमानना, प्रताड़ना और शोषण का मुख्य आधार है। यहाँ मनुष्य को मनुष्यता की दृष्टि से देखने की बजाए जातीय मान्यताओं के द्वारा भेदभाव किया जाता है। जाति की एक ही फटकार से दलितों के संस्कार, गुण, ज्ञान, विचार और आदर्श खत्म कर दिये जाते हैं। छुआछूत और अस्पृश्यता के आघात सहने वाले दलितों का अपना सामाजिक अस्तित्व नहीं है। उनका जीवन दुःख दर्द, वेदना, पीड़ा, अवमानना, घृणा तथा अवसाद की स्थितियों से गुजरता है। इस दाहक, कठोर सामाजिक यथार्थ के परिदृश्य को कथाकार ने कहानी के आरंभ में अभिव्यक्त किया है। दलितों के जीवनानुभव, अर्न्तद्वंद्व तथा जीवन-संघर्षों के आयामों द्वारा कथानक में विस्तार देते हैं। समाज व्यवस्था पर प्रश्नचिह्न खड़ा करते हुए कथानक विस्तारित करने की पद्धति का विकास बाबुराव बागूल करते हैं।

'जब मैंने जाति छुपाई' कहानी के केन्द्र में गुजरात प्रदेश का 'उधना' गाँव है। जहाँ रेल इंजन शेड में नौकरी के लिए युवा-चरित्र 'मैं' जाता है। सुबह के समय 'मैं' जब उधना स्टेशन पर उतरता है, तो उसका मन उल्लास में चिन्तामुक्त है। नौकरी मिलने की खुशी से वह उत्साहित है। 'मैं' का रहन-सहन, भाषा, आचार-विचार, सभ्यता, ज्ञान तथा मानवीय मूल्यों के आदर्श देखकर रेल इंजन शेड के मजदूर मोहित होते हैं। मन में खुशियों के हिलौरे लेने वाला मैं सुबह के समय रणछोड़ से कमरे की बात करता है। लेकिन रणछोड़ दबे स्वर में पूछ लेता है कि, 'आपकी जाति कौन–सी है?' रणछोड़ की जातीय मानसिकता को खंडित करते हुए 'मैं' कहता है - 'मैं मुंबईकर, सत्यवादी, सत्यप्रेमी, सत्यान्वेषी भारत को मुक्ति शक्ति दिलाने वाला प्रभार-पुंज समझे? या फिर एक बार अपनी महिमा का बखान करूँ? तभी देवजी नामक चरित्र उन दोनों में पहल करता है। देवजी 'मैं' के रहन-सहन तथा हुलिये से यह अनुमान लगाता है कि, वह ब्राह्मण या क्षत्रिय होगा। देवजी रणछोड़ को टोकते हुए कहता है - 'अरे भाई, जात बिरादरी वालों के साथ तो हरी दूब बनकर रहना चाहिए। न कि लम्बा ताड़? और फिर आप (मैं) जैसा आदमी धेड़-चमार के घर में थोड़े ही रह सकेगा? खुद ही चोर के घर में घुसकर आफत क्यों मोल लेगा? यहां कथाकार ने सवर्ण अवारवादिता, स्वार्थवृत्ति तथा जातीय ग्रंथियों का सूक्ष्म अंकन किया है। जिसका देवजी की दलितों के प्रति देखने की दृष्टि और जातिग्रस्त मानसिकता वाली स्वभाव विशेषताओं से बोध होता है। जहाँ रणछोड़ और देवजी जातीय भावना से ग्रस्त हैं, वहीं 'मैं' का चरित्र जाति-मुक्त समाज का पक्षधर है। रणछोड़ और देवजी के संवादों को सुनकर 'मैं' कहता है -"कम-से-कम मेरे सामने तो ऐसी बातें मत किया कीजिए। मैं नए देश का नया सिपाही हूँ। हम अब एक-से हैं। ऊँच-नीच, धेड़-चमार, ब्राह्मण आदि सब झूठ है।" स्वतंत्र भारत में मनुष्य की प्रतिष्ठा स्वीकृत करते हुए समानता, बंधुत्व की विचार-दृष्टि रखने वाला दलित जाति की संवदेनाओं से मुक्त है। इस दलित चेतना के विस्तार का परिचय 'मैं' के कथनों से कहानीकार ने किया है। रणछोड़ और

देवजी द्वारा मिन्नते किये जाने पर 'मैं' कमरे की बात पक्की कर लेता है। वहीं दूसरा प्रसंग घटित होता है।

रणछोड़ के आग्रह करने पर 'मैं' कैंटीन में चाय पीने के लिए जाता है। वहाँ 'काशीनाथ सपकाल' इस दलित चरित्र के साथ 'महार' जाति का होने की वजह से दुर्व्यवहार किया जाता है। रामचरण तिवारी और अन्य सवर्ण मजदूर काशीनाथ को अवमानित करते हैं। काशीनाथ दलित है और कैंटीन में सवर्णों के साथ चाय पी रहा है, इसलिए उसे मारने की बातें रामचरण तिवारी तथा अन्य सवर्ण मजदूरों में होती हैं। अपितु काशीनाथ नहले पे दहला होकर उनके खिलाफ संघर्ष करता है। काशीनाथ संवैधानिक कानूनों का आधार लेकर अपनी संघर्षशील चेतना का परिचय देता है।"अभी जाकर तुम्हारे फोरमैन को इंडियन कान्स्टिट्यूशन पढ़ाकर सुनाता हूँ। तुम सब लोगों को जेल की हवा खिलाऊँगा, दूध में से मक्खी की तरह नौकरी से निकलवा दूँगा। कोई मजाक थोड़े ही है? " डॉ. आंबेडकर के विचार और दर्शन से सचेत हुये दलितों के संघर्ष चेतना का विकास काशीनाथ के संवादों से अभिव्यक्त हुआ है। काशीनाथ का जोश, निडरता और संघर्षपूर्ण आवेग देखकर कैन्टीन में इकट्ठा हुए सवर्ण मजूदर खिसकने लगते हैं। यद्यपि रामचरण तिवारी अपने अहं तथा जाति श्रेष्ठत्व के कारण काशीनाथ को बर्दाश्त नहीं कर पाता। वह अपने कार्यालयीन भाई-भतीजावाद के चलते काशीनाथ के खिलाफ साजिश कर लेता है। इस प्रसंग के घटित होने तक 'मैं' अपनी जाति छुपाने की अवस्था में अपराधबोध की अनुभूति कर लेता है। काशीनाथ के फोरमैन ऑफिस में जाने से जो स्थितियाँ बन गई थीं। उसे महसूस करते हुए अपनी जाति छुपाने का डर तथा सवर्ण लोगों का जातिवादी व्यवहार 'मैं' के मनोजगत में तीव्र वेदना पैदा कर रहा था। उसका अन्तर्मन फोरमैन ऑफिस में जाने से रोक रहा था। लेकिन घर की निर्धनता और फटेहाल स्थिति का स्मरण होते ही वह गर्दन झुकाये फोरमैन ऑफिस तक पहुँच जाता है। दलित व्यक्ति के मन में उभरने वाले अंतर्द्वद्व उसे जीते जी मरने का अहसास करा देते हैं। इस वास्तविकता को मैं इन शब्दों में प्रस्तुत करता है - 'मेरी स्थिति फाँसी के फंदे की ओर बढ़ते कैदी जैसी हो गई थी। इसी उधेड़बुन में मैं फोरमैन ऑफिस की सीढ़ियों तक पहुँच गया। अत्यधिक चिन्ताओं से घिरा होने से मेरी सिट्टी-पिट्टी गुम हो गई थी।' तभी फोरमैन ऑफिस से अवमानित होने की वजह से काशीनाथ आक्रोश करते हुए निकलता है। 'मैं' उसे सहानुभूति से अपनी जाति का जिक्र करना चाहता है, लेकिन रणछोड़ के करीब आते देखकर उसके मुँह से शब्द निकल नहीं पाते। काशीनाथ अपने अवमान की बातें 'मैं' को सुनाता है और गुस्से से निकल जाता है। उसके बयान और अपमानजनक स्थिति से 'मैं' की चेतना जाग उठती है। वह नौकरी न करने के इरादे से फोरमैन माताप्रसाद तिवारी के सामने जाकर संघर्ष के लिए खड़ा होता है। फोरमैन माताप्रसाद तिवारी तथा रामचारण तिवारी दोनों भाइयों के आँखों में खून उतर आया था। उसे देखकर 'मैं' भी मरने-मारने पर आमादा हो गया। जैसे ही माताप्रसाद ने कहा - 'क्यों रे, उस आवारा अछूत के संग बाते कर रहा था तू?' तो उनका गर्व तोड़ने के लहजे में 'मैं' ने कहा - अछूत ? कौन है अछूत? अग्नि भी अछूत है और सूर्य भी, मृत्यु भी, और पंचतत्व भी...। मनु ने जिस देश का सत्यानाश कर दिया। मुंबईवासियों ने उसे मुक्ति दिलवाई, मैं उसी महानगरी का मेहनती नागरिक हूँ। मुझे अपने कर्तव्य पर पूरा भरोसा है।" अपने कर्म पर भरोसा रखने वाले दलितों के जीवन सरोकार, अस्तित्व की पहचान तथा स्वाभिमान के व्यापक संदर्भो का समूचा परिदृश्य 'मैं' के वक्तव्यों से स्पष्ट किया गया है। इसी घटना प्रसंग में जातीय अहं में मनुष्य-द्वेष करने वाली प्रवृत्तियों को नकारने की दिशा में दलित चेतना के संघर्षशील आयामों को भी कथाकार ने सूक्ष्मता से उजागर किया है। जिसे माताप्रसाद और मैं के बीच हुए संवादों से समझ सकते हैं। माताप्रसाद कहता है - 'उस धेड़ की बातों में आकर मुझे मुंबई की पट्टी मत पढ़ाओ। मुझे माताप्रसाद कहते हैं, हाँ।' लेकिन नौकरी की परवाह

किये बिना 'मैं' कहता है - 'मैं? सर्वजनीन सुखों की शिल्पकार मानवता प्रेमी...सत्य के लिए मर-मिटने वाला एक लड़ाकू-योद्धा! मेरी अपनी पहचान है। मुंबई में मैं रहा हूँ।' झल्लाकर माताप्रसाद कहता है, 'बको मत'। तब 'मैं' कहता हैं - 'मैं बकता नहीं हूँ। नव भारत का मंत्र पढ़ा रहा हूँ।' अपने अहं में माताप्रसाद डाँटता है - 'चुप रहो उल्टी-सीधी बाते मत करों।' 'मैं' निडरता से काव्यात्मक शैली में कह देता है - 'मैं तो सीधी बातें ही कर रहा हूँ। मैं मेहनती नागरिक हूँ। मनु के पिछड़े देश को दिव्य-भव्य आकार देने वाला...।' इन संवादों में 'मैं' द्वारा नव समाज निर्मिति की अभिलाषा और कर्म की महत्ता स्वीकारने का आग्रह 'मैं' किया है। यद्यपि अपना वर्चस्व बनाये रखने के लिए वर्ण, धर्म तथा जाति श्रेष्ठत्व को महत्व देने वाले माताप्रसाद पर उसका कोई असर नहीं होता। वह परंपरागत जड़वादी मानसिकता में मानवीय मूल्यों की महत्ता नकारता जाता है। देश की भौतिक प्रगति, सामाजिक बदलाव और आर्थिक उन्नति चाहने वाले दलित वर्ग के विचार वर्चस्ववादी संस्कृति के चलते स्वीकार्य नहीं होते। समाज जीवन की इन अंतरर्विरोधी स्थितियों एवं प्रवृत्तियों का यथार्थ संवादों में अभिव्यक्त हुआ है। माताप्रसाद और मैं का संवाद तब खत्म होता है, जब रामचरण तिवारी 'मैं' को कवि समझकर खिल उठता है। अंततः 'मैं' का नाम माताप्रसाद काशीनाथ के पहले दर्ज कर देता है। यहाँ भी माताप्रसाद का पक्षपाती दृष्टिकोण और जातिदंभ प्रकट होता है। जब वह 'मैं' को सर्टिफिकेट दिखाने के लिए कहता है, तो 'मैं' अपने आर्थिक अभाव और नौकरी के मोह में सर्टिफिकेट नहीं दिखाता। उसे पता है कि जब वह अपने सर्टिफिकेट दिखाएगा तो उसके साथ भी क्रूरता का बर्ताव किया जाएगा। इसलिए अवमानना और प्रताड़ना से बचने के लिए सिर्फ नान मैट्रिक तक की पढ़ाई का जिक्र करता है और अपनी जाति न बताने का निश्चय कर लेता है। माताप्रसाद 'मैं' को सवर्ण समझते हुए अपने मनोभावनाओं को प्रकट करता है। 'यहीं तो मार खा जाते हैं हम लोग और धेड़-चमारों को मौका मिल जाता है। वे फटाफट अफसर, मिनिस्टर बन जाते हैं। रेलवे में उन्हें तो इतनी सुविधाएँ हैं कि मैट्रिक ही। इसीलिए तुम दोनों क्लीनर ही रहोगे, जबकि वह फायरमैन, ड्राइवर, कंट्रोलर बन जाएगा।' माताप्रसाद की इस टिप्पणी से कथाकार बागूल ने दलितों की प्रगति एवं उन्नति को लेकर अखरने वाले जातिवादी चरित्रों की मानसिकता का बोध कराया है। समाज में जातीय हितसंबंधों के रक्षणार्थ उच्चवर्णीय - लोग दलितों की भौतिक प्रगति को सुविधाओं की दृष्टि एवं जातीय नजरिये से ही देखते हैं। यहाँ तक कि अपनी असफलता एवं अयोग्यता के लिए दलितों को ही जिम्मेदार ठहराया जाता है। बरसों से शोषित एवं वंचित दलित वर्ग के सामाजिक-आर्थिक विकास के लिए सिर्फ योजनाएँ एवं सुविधाएँ कारणीभूत नहीं रही हैं। दलितों के विकास के मूल में म.फुले, शाहुजी महाराज, डॉ. आंबेडकर आदि के महत्त प्रयास एवं संघर्ष रहे हैं। इन्हीं के विचार, दर्शन तथा शिक्षा के महत्व को समझकर दलित वर्ग ने त्याग एवं कठोर परिश्रम से उन्नति की दिशा में पहल की है। ज्ञान-विज्ञान, शासन-प्रशासन और सामाजिक-आर्थिक क्षेत्रों में अपना योगदान दिया है। फिर भी सामाजिक विषमता को बढ़ावा देने वाले जातीय चरित्र अंध-प्रवृत्ति को बरकरार रखना चाहते हैं। जातीय समस्या को खत्म करने की बजाए उसके पोषणकर्ता के रूप में षडयंत्र करते हैं। समाज जीवन की इस वास्तविकता एवं जातिवादी चरित्रों की विशेषताओं का पर्दाफाश कथाकार ने मातप्रसाद की घृणायुक्त टिप्पणियों के द्वारा किया है। मनोजगत की अर्मूत भावनाओं को संवेदनात्मक धरातल पर मूर्त रूप दिया है।

नौकरी में नाम दर्ज होने के पश्चात 'मैं' अपनी जाति छुपाकर रहता है। अपने आसपास का परिवेश और कामकाज की जगह में दलित मजदूरों के साथ होने वाले जाति-भेद के व्यवहारों को महसूस करता है। मुकादम द्वारा टट्टी-पेशाब की गंदगी साफ करने के लिए काशीनाथ पर की जाने वाली जोर-जबरदस्ती का विरोध करता है। मजदूरों के जातिवादी व्यवहारों से अवमानित काशीनाथ की उग्रता एवं व्यग्रता को काबू में रखने की कोशिश

करता है। अत्यंत सतर्कता से सावधानी बरतता है कि काशीनाथ के ऊपर कोई आफत न आए और अपनी असलियत का पता भी न चलने पाए। एक ओर काशीनाथ के प्रति स्नेह एवं आत्मीयता से सामाजिक प्रतिबद्धता का निर्वाह करता है, तो दूसरी ओर जाति छुपाने का दर्द उसके लिए पीड़ा, त्रासदी एवं अपराध बोध निर्मिति का कारण बन जाता है। सवर्ण समाज की जाति जानने की चाहत से डर, वेदना, बेचैनी को महसूस करता है। वह द्वंद्वात्मक अवस्था में झुलसते हुए दिन काटता है। अपनी छटपटाहट और तकलीफों से मुक्त होना चाहता है। इसी दिशा में वेतन दिवस करीब आने पर नौकरी छोड़ देने का निर्णय लेता है। उसे सर्टिफिकेट लाने के बहाने अर्जी देने पर छुट्टी मंजूर हो जाती है। यह बात रामचरण को पता चल जाती है, जिस नौकरी में के पहले दिन से ही 'मैं' को अपना गुरु बना लिया था। वह 'मैं' के कला-साहित्य के ज्ञान से प्रभावित था और काव्य सीखना चाहता था। रामचरण वेतन मिलने के दिन अपने घर खाना खाने का आग्रह मैं को करता है। जिसे बहुत आग्रह करने पर 'मैं' स्वीकार करता है। इसी बीच कथाकार ने रामचरण की अवसरवादी सोच, स्वार्थवृत्ति तथा जातीय अहंवादी दृष्टि को शिद्धत्त से प्रस्तुत किया है। रामचरण जाति की जानकारी न होने पर 'मैं' के प्रति श्रद्धा एवं आत्मीय भाव रखता है। जबकि काशीनाथ के दलित होने की जानकारी के कारण उसके प्रति क्रूरता का व्यवहार करता है। जातीय गर्वोन्ति की धारणा से उग्रता एवं द्वेषात्मक भूमिका का निर्वाह करता है। दोहरी नीतियों के तहत व्यवहार करने वाली सवर्ण अवसरवादिता की समाज प्रवृत्तियों की पोल खोलने के उद्देश्य से कहानीकार ने रामचरण की चारित्रिक विशेषताओं का अंकन कहानी में किया है। मुंबई जाने के एक दिन पहले मैं अपने कमरें में बैठा गहरी सोच में डूब जाता है। अर्थाभाव में नौकरी छोड़ने के सवाल पर घर की विपन्नता से साक्षात्कार करता है। जीविका निर्वाह के आर्थिक प्रश्न सामाजिक सन्दर्भ लेकर उभरने से मानसिक आघातों से गुजरता है। तभी काशीनाथ वहाँ पहुँच जाता है। वर्णभेद की रूढ़ि से लहूलुहान काशीनाथ दरवाजे के बाहर ही खड़ा रहता है। 'मैं' के आग्रह करने के बाद संकोच करते हुए कमरे में जाता है। काशीनाथ अपने दुःख दर्दो को बयान करता है। नौकरी छोड़कर मुंबई जाने का जिक्र करता है। 'मैं' भी नौकरी छोड़ने का जिक्र करते हुए अपनी असलियत को बयान करना चाहता है। लेकिन रणछोड़ के वहाँ आ खड़े होने से उसके मुँह से शब्द नहीं निकल पाते। काशीनाथ को अपने घर में देखने से क्रोधित रणछोड़ कहता है। 'क्या तमाशा चल रहा है! कल मुंबई जा रहे हो तो आज मेरा कमरा अपवित्र कर डालना चाहते हो? अब तक शांत बैठा काशीनाथ उत्तेजित होकर रणछोड़ की ओर लपक पड़ता है। रणछोड़ डर के मारे अपने कमरे में जाकर दरवाजा बन्द कर देता है। 'मैं' के रोकने के बाद काशीनाथ शान्त होता है और कुछ क्षण बाद वहाँ से निकल जाता है। वर्णभेद का उग्र और भयंकर रूप देखकर 'मैं' भीतर से टूट जाता है। काशीनाथ और रणछोड़ का संघर्ष टल जाता है। कुछ देर बाद रामचरण वहाँ पहुँच जाता है। उसकी आहट सुनकर रणछोड़ बाहर निकलता है। रामचरण उसे समझाने-बुझाने की कोशिश करता है, तो वह 'मैं' पर बिगड़ जाता है। 'मैं' की जाति पर शक करता है। इस पर रामचरण क्रोधित होता है। अपने ब्राह्मण अंहकार से उत्तेजति होकर रणछोड़ पर गुस्सा करता है। रणछोड़ भी अपने श्रात्र-तेज की महत्ता सिद्ध करने के लिए रामचरण को नीचा दिखाने की कोशिश करता है। इन दोनों के बीच अपने जाति श्रेष्ठत्व को साबित करने के लिए वर्णव्यवस्था के तहत बनी हुई भेद-भाव की दरारें सामाजिक विषमता को दर्शाती है। 'मैं' अपना बोरिया-बिस्तर समेटकर रणछोड़ की पत्नी के हाथ में किराये के पैसे थमाता है और वहाँ से निकलता है। लेकिन रामचरण झगड़ा छोड़कर उसके पीछे दौड़ा चला आता है और गुस्से में कहता है 'तुम्हे मैंने खाने का न्यौता दिया था और तुम यहाँ चल भी दिए?' 'मैं' एक बार सिर्फ उसे देखता है और गर्दन लटकाकर चलता है। रामचरण अपने आवेश में रणछोड़ के प्रति द्वेष प्रकट करता है। फिर मैं को मनाने की कोशिश करता 'मैं' उसके न्यौते का

इन्कार करता रहता है। किन्तु रामचरण उसके चरण छूने लगता है। तब उसकी अडिग श्रद्धा देखने 'मैं' गदगद हो जाता है। 'यार मेरे चलो, तुम्हारे स्नेह के लिए मृत्यु का भी स्वागत करूँगा मैं।' कहते हुए उसके घर जाता है। रामचरण के घर में उसकी पत्नी सरस्वती द्वारा प्रतिनिष्ठा और पतिभक्ति को देखकर हैरत में पड़ जाता है। 'अतिथि तो भगवान के अवतार होते हैं' इस मान्यता के तहत पैर छूने, पंखा झलने तथा सेवा करने से परेशान हो जाता है। रामचरण का आग्रह तथा गुरु मानकर पीढ़े पर भोजन करवाना उसकी बेचैनी बढ़ाता है। रात में डर और बेचैनी के बीच रामचरण की कविताओं को सुनता है। उसके मन की व्यथा और वेदना देर रात सोने पर खत्म होती है। उसकी आँखे तब खुलती है, जब उसकी जाति का पता चल जाने के कारण लोग उसे पीटते हैं। रामरचण जितना उसका कट्टर भक्त था, उतना की खूंखार दुश्मन बन गया था। जाति छुपाने की वजह से दर्द को सहने वाला 'मैं' जाति का पता चल जाने के बाद सामाजिक व्यवस्था की क्रूरता का शिकार हुआ था। मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करने की उसकी चाहत जाति व्यवस्था ने खत्म कर दी थी। काशीनाथ के आने से उत्तेजक और प्रक्षोभक सवर्ण लोग वहाँ से भाग गये थे। काशीनाथ के सहारे 'मैं' खड़ा हुआ और चलने लगा। तब काशीनाथ कहता है- 'वो लोग तुमको पीट रहे थे और तुमने कुछ नहीं किया। जैसे-तैसे बचकर निकला 'मैं' कहता है - 'उन्होंने मुझे थोड़े ही मारा? मेरी पिटाई तो मनु ने की है? इस कथन में समाज व्यवस्था के प्रति 'मैं' का आक्रोश प्रकट हुआ है। कथाकार बागूल ने दलित शोषण और उत्पीड़न के लिए किसी एक व्यक्ति को जिम्मेदार नहीं ठहराया। शोषण, उत्पीड़न और विषमता के लिए जिम्मेदार समाज व्यवस्था पर आघात किया है। मनुनिर्मित नियम, वर्ण व्यवस्था और जातीय संरचना की बुराइयों के खिलाफ संघर्षरत दलित वर्ग की चेतना को 'जब मैंने जाति छुपाई' कहानी में विस्तार दिया है।

5.6 अनुभवात्मक संवेदना और सामाजिक सच्चाई का दस्तावेज

दलित साहित्य की प्रमुख विशेषता अनुभवात्मक जीवन-संदर्भों की अभिव्यक्ति है। जिसमें रचनाकार अपने तथा मनुष्य के जीवनानुभवों, सामाजिक व्यवहार और जीवन में घटित घटना-प्रसंगों आदि का सामाजिक प्रतिबद्धता से कलात्मक लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है। साहित्य का सामाजिक यथार्थ और जीवन तथ्यों की सामाजिकता में रचनाकार के अनुभव प्रमाण स्वरूप सिद्ध होते हैं। यह रचना का भावबोध और उसकी सार्थकता का प्रमुख तत्व भी है। इस दृष्टि से दलित साहित्यकारों ने साहित्य को सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा राजनैतिक पहलुओं से जोड़कर विश्लेषण करने की नई वैचारिकी दी है। बाबुराव बागूल की 'जब मैंने जाति छुपाई' कहानी लेखक के अनुभव जीवन के घटना, प्रसंग और सामाजिक जीवन में जाति आधारित प्रताड़ना की उपज है। भारतीय समाज की जातीय आधार रचना दलित के शोषण-प्रक्रिया का मूल केन्द्र है और उसकी मान्यताओं के चलते जो यथार्थ मनुष्य के जीवन-संदर्भों में, मन में और भाव जगत में स्थित है, उसका कलात्मक सृजन कहानी में है।

कहानी का अनुभवात्मक परिदृश्य लेखक के जीवन में जुड़ी हुई सन् 1955 की घटनाओं का है। सन् 1955 में बागूल रेल वर्कशॉप की नौकरी के लिए मुंबई छोड़कर सूरत (गुजरात) गये थे। जिस तरह दलितों को किसी नई जगह जाने पर रहने के लिए सवर्ण, उच्चवर्गीय लोग अपने मुहल्लों में किराये पर मकान नहीं देते। उसी तरह के अनुभव बागूल को भी सूरत जाने पर मिले। उन्हें रहने के लिए मकान नहीं मिला। उन्हें सवर्णों द्वारा बार-बार जाति पूछी गई। दलित बिरादरी की जानकारी मिलते ही उच्चवर्गीय, उच्चजातीय लोग किराये पर मकान देने के लिए राजी नहीं हो रहे थे। परिणामतः अपनी परिस्थितिगत्

मजबूरियों में पाँच-छः महीने सूरत में सवर्ण बस्ती में जाति छुपाकर रहना पड़ा था। उस इलाके के लोग उनकी जाति जानने का प्रयास करते थे। इस स्थिति में वेदना,पीड़ा, संत्रास की कसमसाहट भरी त्रासदी के अनुभवों से उन्हें गुजरना पड़ा। वे सूरत के जिस उधना इंजन शेड में मजदूर थे वहाँ के मजदूरों के बीच में भी जाति के आधार पर भेदभाव बरता जाता था। जिस कारण दलित मजदूर भी अवमानना, अवहेलना तथा उपेक्षा का शिकार होता है। उसे अपने ही सहकर्मियों के बीच अछूत, उपेक्षित माना जाता है। छुआछूत और भेदभाव के अनुभव अंततः मानसिक हीनताबोध में बदल जाते हैं। जाति आधारित भेदभाव एवं मानसिक उत्पीड़न की प्रक्रिया से गुजरने वाले दलितों के अनुभव बागूल महसूस करते रहे हैं। उन दिनों सवर्ण समाज के लोगों का व्यवहार तथा जाति का पता लगने के बाद निर्मित हुई स्थितियों और मार-पीट की घटनाओं की वजह से उन्हें नौकरी छोड़नी पड़ी थी। वे वापिस मुंबई लौट आये। सूरत में भोगे हुए अनुभवों का यथार्थ तथा दलित व्यक्ति द्वारा मजबूरी में खुद का ब्राह्मणीकरण कर उभरी हुई जाति छुपाने की प्रवृत्ति और इस स्थिति में निर्मित त्रासदी बाबुराव बागूल के मन में गहराई से उतर गई। 'जब मैंने जाति छुपाई' कहानी में उस सघन होती गई पीड़ा को संवेदनात्मक अभिव्यक्ति दी है।

सूरत के परिवेश की सामाजिक सच्चाई में जातीय मान्यताओं की जड़े जीवित रही हैं। यहाँ पर औद्यौगिक तथा व्यापार क्षेत्र में उन्नति होने के बावजूद भी लोग उच्च-नीच की भावना अपनाये हुये हैं। भेद-भाव की प्रवृत्ति का मूल केन्द्र जाति है और उसके चलते दलित व्यक्ति को सामान्य मजदूर की नौकरी करना भी कठिन हो जाता है। कहानीकार के जीवन में यही अनुभव सुरत में आते गये हैं। सूरत के जीवनानुभवों तथा कहानी के अनुभवात्मक परिदृश्य का उद्‌घाटन खुद बागूल ने प्र.श्री नेरूरकर द्वारा लिये गये साक्षात्कार में किया है। क्या 'जब मैंने जाति छुपाई' कहानी सूरत के अनुभवों की अभिव्यक्ति है? इस कहानी में आप कौन हो? इन सवालों का जबाब देते हुए बागूल बताते हैं -"हाँ, उस कहानी का 'काशीनाथ सपकाल' भी मैं हूँ ओर 'मैं' भी मैं हूँ। दलित समाज के युवाओं में दो प्रवृत्तियाँ उभरती है। 'एक खुद का ब्राह्मणीकरण कर लेने की प्रवृत्ति और दूसरी आंबेडकर के सम्यक विचारों की प्रवृत्ति।' इन दो प्रवृत्तियों में जीने वाला दलित वर्ग अतंतः जाति-व्यवस्था की संरचना में शोषित ही होता है। कहानी में सृजित 'मैं' और 'काशीनाथ सपकाल' ये दोनों चरित्र तत्कालीन समय में कहानीकार के अनुभवों से निर्मित जीवन-संदर्भ और मानसिक स्थिति को उजागर करते हैं। जो सामान्यतः दलित युवाओं के जीवन सरोकार और दलित चेतना के विस्तार को भी स्पष्ट कर देते हैं। साथ-ही सामाजिक जीवन की विषमता, क्रूरता, स्वार्थवृत्ति एवं बुराइयों को भी उजागर करते हैं। कहानी के आरंभ में ही यह जानकारी प्राप्त होती है कि लेखक खुद सामाजिक जीवन की वास्तविकताओं और अनुभवों के भुक्तभोगी रहे हैं। जो अनुभव सूरत के परिवेश में तथा उधना इंजन शेड में नौकरी करते समय उन्हें मिले हैं। उसका सीधा प्रस्तुतिकरण उन्होंने किया है। यथा –

''मुझ पर जाति छुपाने के कारण आफत आई थी। उस घटना की याद आते ही पूरे तन बदन में आग-सी लग जाती है। सिर भन्नाने लग जाता है और लगता है कि इस दुर्भाग्यपूर्ण देश में दलित बिरादरी में गलती से भी जन्म नहीं लेना चाहिए। इस बिरादरी में जन्म लेने पर तो इस कदर यन्त्रणा और अवमानना सहनी पड़ती है कि उससे तो मर जाने का दिल करता है। जहर खाकर जिन्दगी के खोल पर पर्दा डालने की इच्छा बलवती हो जाती है। भीतर की सभी अच्छाइयाँ और इन्सानियत काफूर हो जाती है और बची रह जाती है पाशवी क्रूर खीझ और घृणा इसी मानसिक और बौद्धिक यंत्रणा के दौर से मुझे गुजरना पड़ा था। यदि मैं कुछ दिन और अपनी जाति छिपाए रखता तो जैसे बिल्कुल ही पागल हो जाता या फिर हलाहल पीकर साँप के रूप में मुंबई आ गया होता। यह तो अच्छा हुआ कि जिस दिन मुझे वेतन मिला, उसी रात रामचरण तिवारी के घर मेरे सामान की चोरी

हुई और एक चोर ने वर्ण-चोर की चोरी का रहस्य खोल दिया। यानि रामचरण तिवारी ने मेरी याने अपने उस्ताद की खूब अच्छी तरह से मरम्मत की, लात-घुँसे जमाए। ऐसी स्थिति में काशीनाथ सकपाल ने मुझे सामूहिक छीछालेदार की दोजख से बचा लिया।"

अतः समय, समाज और परिवेश के परिप्रेक्ष्य में कहानीकार की अनुभवात्मक संवेदना 'जब मैंने जाति छुपाई' कहानी में अभिव्यक्त हुई है। कल्पना जगत की भावभूमि की अपेक्षा जीवनानुभव केन्द्रित अनुभवों का व्यापक परिदृश्य कहानी की अंतर्वस्तु में मौजूद रहा है। जिसमें सामाजिक जीवन की सच्चाई का यथार्थान्वेषण किया गया है। कहानी में अभिव्यक्त विचार, अनुभव, सामाजिक यथार्थ महज एक लेखक की संवेदनाएं नहीं हैं, बल्कि समूचे दलित वर्ग की वास्तविक जिन्दगी भी है। जो सरकारी प्रशासनिक कार्यालयों, कल-कारखानों, छोटे-मोटे उद्योगों तथा निजी संस्थाओं में कार्यरत हैं। उनके जीवन में कई कारणों से भेदभाव, छुआछूत, अवमानना के अनुभव आते हैं। अपना घर, परिवार, गाँव तथा शहर छोड़कर किसी दूसरे परिवेश में नौकरी के लिए स्थानांतरित हुये दलित व्यक्ति की पहचान उसकी जाति के आधार पर की जाती है। सामाजिक जीवन में उनके साथ जाति-भेद का बर्ताव किया जाता है। जो उच्च पद की नौकरी प्राप्त करने के बाद भी खत्म नहीं होना। सामाजिक जीवन की इस दुराग्रह पूर्ण स्थिति में दलित व्यक्ति को मजबूरी में जाति छुपाकर जीवन व्यतीत करना पड़ता है। इस अवस्था में उस दलित की त्रासदी और मनोजगत में निर्मित अपराध बोध की भावना बलवती हो जाती है। एक ओर सामाजिक जीवन में उपेक्षा और दूसरी ओर मानसिक हीनताबोध की पीड़ा दलित जीवन का यथार्थ है। दलित जीवन की इन सामाजिक और व्यक्तिगत वास्तविकता को समझाने का प्रयास 'जब मैंने जाति छुपाई' कहानी के द्वारा कहानीकार ने किया है। कहानीकार की अपनी अनुभवात्मक संवेदना और सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति जीवनानुभव केन्द्रित है। इसलिए यह कहानी सिर्फ कलात्मक अभिव्यक्ति नहीं है, बल्कि सामाजिक सच्चाई के महत्वपूर्ण दस्तावेज के रूप में प्रसिद्ध रही है।

5.7 वेदना और विद्रोह का मूल्यात्मक बोध

दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्रीय वैचारिकी में वेदना और विद्रोह इन मूल्यों का विशेष महत्व है। दलित संवेदना का प्रमुख तत्व वेदना समाज से निर्मित शोषण की उपज है। वेदना एक भावात्मक अनुभूति की मन-संवेदना है। वेदना का अभ्युदय दलितों के मन में 'अस्पृश्य' या 'अछूत' कहकर दी जाने वाली भीषण यंत्रणा से होता है। विद्रोह की संवेदना वैचारिक और क्रांतिदर्शी होती है। विद्रोह सिर्फ नकार की भाववृत्ति नहीं है बल्कि, बुद्धि प्रमाण्यवाद, विज्ञानवाद तथा नव निर्माण की क्रांति चेतना धारण करने वाली व्यापक संवेदना है। विद्रोह मनुष्य की भौतिक जीवनयात्रा में बाधक कल्पना बोध, अंधविश्वास, रूढ़ियाँ एवं जड़ परम्परागत धारणाओं के खिलाफ होता है। वैचारिक आंदोलन से जगे आत्मबोध से अस्मिता एवं आत्मसम्मान का अभ्युदय होता है और इस समय की अवस्था में मनुष्य बौद्धिक क्षमता से समाजव्यवस्था का मूल्यांकन करते हुए विद्रोह करता है।

'जब मैंने जाति छुपाई' कहानी में 'मैं' और 'काशीनाथ सपकाल' इन दलित चरित्रों के जीवन में घटित घटनाएँ वेदना और विद्रोह की स्थितियों को अभिव्यक्त करती है। 'मैं' परिस्थितिवश नौकरी के लिए मजबूरी में जाति छुपाकर रहता है। उसका जागृत मन मानवमुक्ति, शोषण मुक्ति और मानवकल्याण की दिशा में नये के निर्माण के लिए सच्चाई का मार्ग अपनाता है। उधना के परिवेश में सवर्ण समाज के रणछोड़, रामचरण तिवारी तथा माताप्रसाद यह चरित्र उसकी जाति जानने का प्रयास करते हैं। इन चरित्रों के मन में दलित वर्ग के प्रति हीनता एवं दुर्व्यवहार का भाव है। वे 'महार', 'अछूत', 'अस्पृश्य', 'धेड़' इन शब्दों के प्रयोग द्वारा इसे प्रकट करते हैं। 'काशीनाथ सपकाल' इस दलित

चरित्र को तो वे अत्यंत घृणा और तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं। सवर्ण चरित्रों की हिन्दू धर्म संस्कारों के प्रति आस्था और जातीय भावना दलित चरित्र 'मैं' और 'काशीनाथ सपकाल' की मन-संवेदनाओं में वेदना निर्माण का कारण बन जाती है। वेदना की अनुभूति होने पर विद्रोह की प्रतीति होती है। कथानायक 'मैं' जब उधना के स्टेशन पर उतरता है, तब रणछोड़ उसे कमरा देने के लिए राजी हो जाता है। वहाँ मजदूरों के आँखों में उसके प्रति स्नेह भाव देखकर 'मैं' का मन उत्साहित होता है। यद्यपि इसी समय तुरंत उत्साही मन की अनुभूति वेदना में बदल दी जाती है। मैं खुशियों के महासागर में हिलौरे लेने लगा था कि रणछोड़ दबे स्वर में पूछता है - 'लेकिन आपकी जाति कौन–सी है?' भारतीय समाज व्यवस्था में जहाँ दलितों के अधिकांश दुःख जन्म से ही शुरू होते हैं। वहाँ सवर्णो द्वारा जाति पूछी जाने से दलित मन में भय और वेदना के संमिश्र भाव उठने लगते हैं। सवर्णों के जाति जानने के व्यवहार से ही उस कठोर सामाजिक यथार्थ का परिचय होता है, जहाँ दलितों के सुसंस्कार, शिक्षा, वैचारिक प्रगल्भता आदि समस्त गुण खारिज किये जाते हैं। शिक्षित 'मैं' भी अपने ज्ञान और जागृत मन से कहता है - 'आपने मुझसे यह पूछने की जुर्रत कैसे की?' मेरे हुलिए से आप अन्दाज नहीं लगा सकते? मैं... मुंबईकर यानि कि मुंबईवासी, सत्यवादी, सत्यप्रेमी, सत्यान्वेषी, भारत को मुक्ति शक्ति दिलाने वाला प्रभास-पुँज समझे? या फिर एक बार सुनाऊँ? अपनी महिमा का बयान करूँ?" वेदना से उपजी इस अभिव्यक्ति में वैचारिक विद्रोह है। जिससे रणछोड़ चुप हो जाता है। उन दोनों में पहल करते हुए देवजी रणछोड़ को टोकता है। अपनी अवसरवादिता में रणछोड़ कमरा देने के लिए तैयार हो जाता है। लेकिन देवजी भी अपने स्वभाव और मनोजगत में स्थित जातीय ग्रंथियों से मुक्त नहीं है। उसका पहल करने का अंदाज ही इसे बताता है - 'अरे भाई, जाति बिरादरी वालों के साथ तो हरी दूब बनकर रहना चाहिए, न कि लम्बा ताड़? और फिर आप जैसा आदमी धेड़-चमार के घर में थोड़े ही रह सकेगा? खुद ही चोर के घर में घुसकर आफत क्यों मोल लेगा?'' देवजी की दलितों के प्रति यह संवेदनाएँ जातीय मान्यताओं से ग्रस्त हैं। इसे 'मैं' समझ जाता है और जाति-पाँति से ऊपर उठने के पक्ष में कहता है - 'कम-से-कम मेरे सामने तो ऐसी बात मत किया कीजिए। मैं नए देश का नया सिपाही हूँ। हम अब एक से हैं। ऊँच-नीच, धेड़-चमार, ब्राह्मण सब झूठ है।' मनुष्य केन्द्रित जीवन दृष्टि से मानवता के पक्ष में 'मैं' की सोच वैचारिक विद्रोह का बोध देती है। इस प्रसंग से 'मैं' की जाति छुप तो जाती है, पर उसकी वेदना अपराध बोध में अधिक तीव्रता धारण करने लगती है। चाय-नाश्ते की कैंटीन में जब 'मैं' और 'रणछोड़ पहुँचते है, तब वेदनायुक्त संवेदना का प्रसंग घटित होता है। कैंटीन की ठसाठस भरी भीड़ में 'महार' रणछोड़ शब्द सुनते ही मैं को लगता है कि किसी ने उसके कान में बन्दूक दाग दी हो। प्रसंग है- 'महार उसने ने मुँह फेर कर चिल्लाने के से अन्दाज में कहा, तो गरूड़ पक्षी की भाँति कुलाँचे भरता मेरा मन जैसे धप्प से नीचे आ गिरा। मेरा हर्षोत्फल शरीर मानों विकलांग हो गया। मेरे खून की गर्मी जैसे बर्फ बन गई। यह शब्द विकट हास्य करते हुए डरा रहा था। मैं दीवार बना खड़ा था।' शिक्षित 'मैं' के डर और वेदना के अन्य कुछ प्रसंगों में तिवारी का काशीनाथ सपकाल के साथ 'अस्पृश्य', 'अछूत' कहकर घृणा से टिप्पणी करना। फोरमैन ऑफिस में भेद-भाव बरतना आदि का सूक्ष्म अंकन कहानी में है। 'मैं' को वेदना की उस समय अधिक तीव्रानुभूति होती है, जब वह जाति से ऊपर उठकर मनुष्यता की दृष्टि से सोचता है। वह समय-समय पर अपने जागृत मन से रणछोड़, रामचरण तथा माताप्रसाद से संवाद करता है। यद्यपि यह चरित्र अपने धर्म-संस्कारों जातीय अहं तथा परंपरागत जड़ रूढ़िवादिता से बाहर कुछ सोचते ही नहीं। उल्टे अपने जाति-ग्रस्त मानसिकता में 'मैं' की जाति जानने का प्रयास करते हैं। यह महसूस करने पर मैं का कलेजा तार-तार हो जाता है। 'मैं' को एक ओर गरीबी और अर्थाभाव में नौकरी में बने रहने की चिंता है। तो दूसरी ओर अपनी जाति छुपाने की अवस्था

में डर लगता है। अर्न्तद्वंद्व की इस स्थिति में वेदनायुक्त संवदेनाएँ 'मैं' के लिए अपराध बोध का कारण बन जाती हैं। 'वह अपनी वर्ण-चोरी की पोल खुल जाने के भय से एकांत के अंधेरे में धँसता जा रहा था और वहाँ जाकर अपने आपको ही कोसते हुए विलाप कर रहा था।' डर, चिंता मजबूरी और वेदना के संमिश्र भावों में दलित मन की त्रासद अनुभूति कथाकार सूक्ष्मता से प्रकट करते हैं।

कथा के अंत तक 'मैं' अपनी जाति छुपाने तथा दलित व्यक्ति को उसकी गुणवत्ता और कुशलता की दृष्टि से देखने की बजाय जाति के आधार पर नकारने की वजह से वेदना का संचय मन में लिए रहता है। वेदना को सहते हुये करुणा, दया, प्रेम और बंधुत्व की कामना करता है। लेकिन उसके आदर्श, ज्ञान, मानवीयता के सपने, शिक्षित संस्कार सवर्णों को रास नहीं आते। अंततः उसकी वर्ण-चोरी या जाति छुपाने का पता चल जाता है। वह उच्चवर्णीय लोगों के प्रक्षोभ का शिकार बन जाता है। उसके सारे सर्टिफिकेट फाड़ दिये जाते है। सवर्णों के जातिश्रेष्ठत्व के अहं में उसका सब-कुछ लूट लिया जाता है। रामचरण तिवारी के घर के बाहर 'मैं' को पीटने की खबर काशीनाथ सपकाल को मिलती है। काशीनाथ अपने शौर्य एवं निडरता से सवर्ण लोगों की भीड़ को भगा देता है। 'मैं' की असहनीय, अवमान की स्थिति में काशीनाथ उसे बचा लेता है। 'मैं' को सहारा देते हुए संवाद करता है - 'चलो, पुलिस-स्टेशन चलते हैं।' वे लोग तुमको पीट रहे थे और तुमने कुछ नहीं किया? 'मैं' कहता है - 'उन्होंने मुझे थोड़े ही मारा? मेरी पिटाई तो मनु ने की है। चलो भी...। इस कथन में 'मैं' की व्यक्तिगत विवशता और व्यथा की अभिव्यक्ति नहीं होती बल्कि समाज व्यवस्था के प्रति, धार्मिक संस्कारों, कुरीतियों, जाति-व्यवस्था के प्रति विद्रोह व्यक्त होता है। 'मैं' के अंतर्मन की धधकती वेदना और उस पर हुए अत्याचार का मूल मनुनिर्मित वर्ण-व्यवस्था है। वर्ण व्यवस्था के संस्कारों के कारण भारतीय समाज में दलितों का शोषण होता है। इसलिए मनु प्रणित धर्मव्यवस्था और नियमों के प्रति चल रहे दलित आंदोलन के क्रांतिदर्शी संघर्ष के रूप में विद्रोह का मूल्यात्मक बोध कथाकार कराते हैं।

कहानी में जहाँ 'मैं' के द्वारा वेदना और विद्रोह के मूल्यों की अभिव्यक्ति है, वहीं काशीनाथ सपकाल के द्वारा डॉ. आंबेडकर के आंदोलन, विचारधारा एवं प्रेरणा से जागृत दलित-मन की विद्रोही स्थितियों को दर्शाया है। काशीनाथ तलवार की धार-सा और संवदेनशील मन का चरित्र है। उसके लिए भी वेदना का कारण जाति-व्यवस्था है। बचपन से ही सामाजिक जीवन की क्रूरता एवं पारिवारिक जीवन के अर्थाभाव में मानसिक दुःख-दर्द सहता है। अपनी गरीबी और आर्थिक अभाव को मिटाने के लिए मजदूर बन जाता है। मजदूर बनने के बाद भी उसे दलित होने की वजह से सवर्ण मजदूरों द्वारा प्रताड़ित होना पड़ता है। समाज में यही स्थिति प्रायः दलित वर्ग के मजदूरों की है। हालाँकि सवर्ण मजदूर भी पूँजीपतियों के आर्थिक शोषण से पीड़ित हैं। परंतु दलित मजदूर आर्थिक शोषण और सवर्ण मजदूरों के वर्ण-धर्म संस्कार तथा जातीय मान्यताओं की वजह से सामाजिक स्तर पर भी शोषित हैं। इन अवस्थाओं में दलित वेदना की तीव्र अनुभूति करता है। काशीनाथ की वेदना आर्थिक शोषण और सवर्ण चरित्र रणछोड़, माताप्रसाद, रामचरण आदि के द्वारा किये जाने वाले जातीय शोषण एवं मानसिक आघातों से निर्मित है। सवर्ण चरित्रों द्वारा किया जाने वाला भेदभाव, दुर्व्यवहार, अवमानना, अपमान के बीच परिस्थितियों से जूझता काशीनाथ अपनी वेदना और शोषण से मुक्त होना चाहता है। इस दिशा में प्रत्यक्ष संघर्ष के लिए खड़ा होता है। डॉ. आंबेडकर के आंदोलन और विचारों से जागृत होने पर वह विद्रोह करने की स्थिति में कहता है। 'अभी जाकर तुम्हारे फोरमैन को इंडियन कांस्टिटयूशन पढ़ाकर सुनाता हूँ। तुम सब लोगों को जेल की हवा खिलाऊँगा, दूध में से मक्खी की तरह नौकरी से निकलवाँ दूगा। कोई मजाक थोड़े ही है?'काशीनाथ द्वारा छुआछूत और जाति-भेद के

विरुद्ध किया जाने वाला विद्रोह सामाजिक न्याय और मानवीय अधिकारों के पक्ष को दर्शाता है। काशीनाथ का विचार–दर्शन लोकतांत्रिक प्रणाली और न्याय व्यवस्था के प्रति आस्था रखने वाला है। काशीनाथ का विद्रोह के रूप में प्रत्यक्ष संघर्ष करना किसी एक व्यक्ति के विरोध में खड़ा होना नहीं है। वह समाज में मनुष्य की प्रतिष्ठा नकारने वाली प्रवृत्तियों के खिलाफ संघर्ष करना है। मानवीय मूल्यों की स्वीकृति और सामाजिक एकता को दृढ़ करने हेतु क्रांतिदर्शी चेतना से युक्त विद्रोह की अवस्थाओं को कथाकार बागूल ने काशीनाथ के स्वभाव और संवेदनाओं के चित्रण से स्पष्ट किया है। सामाजिक जीवन में दलित अपनी जाति छुपाकर जीवन व्यतीत करे अथवा जाति बताकर जीने की कोशिश करता रहे आखिर दोनों अवस्थाओं में वेदना की अनुभूति कर ही लेता है। अपनी वेदना और शोषण से मुक्त होने की दिशा में समाज व्यवस्था का मूल्यांकन करता है। वह आत्मसम्मान, स्वाभिमान एवं अस्मिता को प्राप्त करना चाहता है। भाईचारा प्रस्थापित करने हेतु समाज-जीवन का मूल्यांकन करते हुये विद्रोह करता है। दलितों की इस वेदना और विद्रोही चेतना का विकास बाबुराव बागूल ने बड़ी सफलता एवं सूक्ष्मता से 'जब मैंने जाति छुपाई' की कहानी के अंतर्वस्तु में किया है।

5.8 सारांश

'जब मैंने जाति छुपाई' कहानी समाज के जातिवादी चरित्रों द्वारा किये जाने वाले दलित शोषण के आयामों के खिलाफ विद्रोही चेतना के विस्तार की अभिव्यक्ति है। कहानी के माध्यम से बाबुराव बागूल ने एक ओर समाज की परंपरागत जड़वादी मानसिकता और सामंती मूल्यों पर आघात किया है तो दूसरी ओर दलितों के बीच खुद का ब्राह्मणीकरण करते हुए पनपने वाली जाति छुपाने की प्रवृत्तियाँ और जाति चोरी से निर्मित पीड़ा एवं त्रासदी के अनुभवों का सूक्ष्म यथार्थ उजागर किया है। भारतीय समाज की संरचना परंरपरा से जाति आधारित रही है। समय-चक्र की गतिविधियों में इसमें बदलाव होने की संभावना देश में हुये औद्योगिक विकास तथा विकास के तौर पर हुये सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन के कारण थी। यद्यपि विकासशील समाज में परंपरागत धर्मशास्त्रीय मान्यताएँ एवं मनुष्य की अहंवादी प्रवृत्तियों में समुचित बदलाव नहीं हो सका। परिणामतः समाज की संरचना जातीय आधार पर अधिक दृढ़ होती गई हैं। भारतीय व्यक्ति का मानस परंपरागत धार्मिक नियमों तथा समाजिक मान्यताओं के चलते जड़वादी मूल्यों को नकार न सका। वर्णाश्रम व्यवस्था के विकसित जातीय चरित्र पहचान का मुख्य हिस्सा या मानदण्ड बनकर भारतीय जनमानस के मनोजगत में इस तरह बसा गया है कि, समाज के दलित वर्ग का आर्थिक आधार पर उन्नति करने तथा अपनी कुशलता से आगे बढ़ने पर भी शोषण जारी है। दलितों के प्रति जन्म से दलित है, दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति ने कर्म-कुशलता को खारिज कर दिया। उसे बदलने की जरूरत है इस तरह का स्वर कहानी में मुखर हुआ है। दलितों को सामाजिक जीवन में उच्चवर्गीय, उच्चजातीय लोगों द्वारा प्रताड़ित किया जाना, सरकारी नीजि क्षेत्रों में उसके कार्य करते समय टीका-टिप्पणी एवं आलोचना करना, उसकी कर्मकुशलता को जाति के आधार पर नकारना आदि के अनुभव एक दलित को यातना और पीड़ा से गुजरने के लिए मजबूर कर देते हैं। उससे निर्मित वेदना, संत्रास और असहनीय मानसिक शोषण की त्रासदी अंततः दलित को विद्रोह करने के लिए मजबूर कर देती है। दलित चरित्र समूची व्यवस्था के प्रति आक्रोश प्रकट करने लगता है। दलित के मनोजगत की यह संवेदनाएँ और सामाजिक जीवन के दुःख-दर्दों की व्यथा 'मैं' और 'काशीनाथ सपकाल' के द्वारा उजागर होती है। रणछोड़, देवजी, रामचरण तिवारी के चरित्रों से सवर्ण अवसरवादिता और जातीय मानस की संवेदनाओं को अभिव्यक्त किया है। कहानीकार की कथ्य प्रस्तुति की शैली आत्मकथात्मक है, जिसमें तर्क, ज्ञान एवं आलोचनात्मक दृष्टि का विकास हुआ है। सामाजिक यथार्थ को बिना झिझक मन में लिए

सीधे-सीधे रेखांकित किया गया है। दलित मन की संवदेना और सामाजिक न्याय की दिशा में संघर्षरत अस्मिताओं की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति धर्मसत्ता, वर्ण-व्यवस्था और सवर्ण वर्ग वर्चस्व को तोड़ती हैं। कहानी के आरंभ से अंत तक कथाकार ने कलावादी कलात्मक भाववृत्ति को नकारने और उसके समक्ष-जीवन सच्चाई तथा समाज में घटित घटनाओं को प्रस्तुत करने की सफल कोशिश की हैं। बाबुराव बागूल एक लेखक के रूप में सिर्फ साहित्य सृजन नहीं करते बल्कि समाज की बुराइयों को मिटाने के लिए एक सक्रिय कार्यकर्ता के रूप में संघर्ष भी करते रहे हैं। उन्होंने दलित वर्ग के पक्षधर बनकर स्वतंत्र दलित सैद्धान्तिकी को निर्मित किया हैं। वे प्रत्यक्ष संघर्ष और वैचारिक संघर्ष को तेज करने का संदेश देते है। अतः 'जब मैंने जाति छुपाई' कहानी के अध्ययन से दलित शोषण, वेदना और विद्रोह, सवर्ण समाज की अवसरवादिता, भारतीय मानस की जड़वादी जातीय मानसिकता तथा दलित चेतना के विस्तार को समझा है। साथ ही मराठी दलित साहित्य आंदोलन में बाबुराव बागूल का स्थान, उनके लेखन की वैचारिकी, लेखन के अनुभवात्मक पक्ष और उनके साहित्यिक योगदान से परिचित किया गया है। दलित लेखन साहित्य बागूल की दृष्टि समता भाईचारा एवं सामाजिक न्याय की दिशा में अग्रसर रही है। उनकी दृष्टि में दलित चाहे किसी भी स्तर का हो, अंततः शोषित है। इसलिए शोषण मुक्ति की दिशा में प्रत्यक्ष संघर्ष और वैचारिक संघर्ष के समुचित योग से एक-दूसरे को सहयोग देना चाहिए। इस तरह की चेतना का विकास 'जब मैंने जाति छुपाई' कहानी के द्वारा किया गया है।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 6 बुद्ध ही मरा पड़ा है

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 अर्जुन डांगळे : जीवनवृत और लेखन परिचय

6.3 बुद्ध ही मरा पड़ा है : नवजाग्रत दलित समाज के अंतर्विरोध

- 6.3.1 शिक्षित युवा नेतृत्व की वेदना, व्यथा और आत्मसंघर्ष
- 6.3.2 मानवीय मूल्यों के लिए संघर्ष
- 6.3.3 दलित अंतर्विरोध और परिवर्तनवादी चेतना का विस्तार

6.4 दलित राजनीति और अवसरवाद की आलोचना

6.5 परम्परागत जातिवाद के प्रति विद्रोह और संभावना की तलाश

6.6 सारांश

6.0 उद्देश्य

खंड 2 के अंतर्गत पिछली इकाई एक में आपने बाबुराव बागूल की 'जब मैंने जाति छुपाई' कहानी का अध्ययन किया है। इसी खंड की यह दूसरी इकाई मराठी दलित साहित्य आंदोलन के प्रमुख रचनाकार अर्जुन डांगळे की 'बुद्ध ही मरा पड़ा है' कहानी पर आधारित है। इस के माध्यम से आप दलित कहानी सृजन में अर्जुन डांगळे की लेखनधर्मिता, सामाजिक प्रतिबद्धता एवं योगदान को समझ सकेंगे। दलित रचनाकार पर यह आरोप लगाया जाता है की वह अपने समाज के अतिरिक्त अन्य समाजों की ही आलोचना करता है। उसका सृजन एकांगी लेखन है, जो दूसरों पर ही दोषारोप करते हुए आक्रोश व्यक्त करता है। व्यवस्था को बदलने की बात तो करता है, लेकिन अपने ही समाज की गलतियों को, बुराइयों को बयान नहीं करता। इस तरह की की सोच रखने वाली प्रवृत्तियों का खंडन यह कहानी है। जिससे आप जान पाएंगे की दलित लेखन दलितों की उन्नति के पथ पर शोषणतंत्र के जो जाल हैं, उसमें दलित वर्ग भी अपनी घोर आग्रही भूमिका के कारण जिम्मेदार रहता है। प्रस्तुत कहानी में एक दलित के द्वारा अपने ही समाज की आलोचना की गयी है। जो सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक न्याय के लिए संघर्षरत दलित के व्यापक दृष्टि का परिचायक है। भारतीय समाज के सबसे उपेक्षित दलित वर्ग के जीवन सरोकार, उनकी अपनी नैतिक-अनैतिक मान्यताएं और सामाजिक-आर्थिक संघर्ष के पहलुओं को मानवीयता की कसौटियों पर कसने का साहस रचनाकार ने किया है। समय, समाज और पारिवेश के आलोक में मनुष्य के सामाजिक व्यवहारों, जीवन की बुराइयों और शोषण-उत्पीड़न करने की मानसिकता को प्रश्नांकित करना दलित कहानी लेखन की शैलीगत विशेषता रही है। इसी शैली में प्रस्तुत कहानी का समूचा परिदृश्य डॉ. आंबेडकर के पश्चात् की दलित राजनीति, बौद्ध दर्शन के अवसान और दलितों में भी मौजूद जड़ जातिव्यवस्था की मान्यताओं को प्रश्नांकित करता है। आइए, अब इन्हीं कुछ मुद्दों के आलोक में इस कहानी का अध्ययन करते हैं। इसके अध्ययन के बाद आप परिचित होंगे :

- दलित साहित्य के उद्देश्यों में प्रमुख रूप से अभिव्यक्त होते समता और भाईचारे के मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता को पहचान सकेंगे;
- कहानीकार अर्जुन डांगळे का जीवनवृत, लेखन और उनकी दलित साहित्य आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका को जान सकेंगे;
- दलितों की उन्नति की दिशा में बुद्ध, फुले, डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर आदि के विचार-दर्शन से प्रेरित संघर्षरत सचेत दलित कार्यकर्ता के अंतद्वंद्व और जीवन यथार्थ को समझ सकेंगे;
- दलित जातियों के आपसी अंतर्विरोधों के बीच दलित आंदोलन की सफलता-असफलता की आलोचना कर सकेंगे;
- दलित जातियों में धर्म परिवर्तन से हुए सामाजिक, सांस्कृतिक, वैचारिक बदलाव का मूल्यांकन कर सकेंगे;
- ब्राह्मणवाद के प्रभाव के कारण दलित वर्ग में पनपे अवसरवाद को रेखांकित कर सकेंगे;
- गावों की संरचना में उपस्थित धार्मिक-सामाजिक दबाव और अज्ञानता से जूझती चेतनाशील दलित युवा पीढ़ी की हताशा को समझ सकेंगे; और
- आधुनिक युग में व्यवस्था परिवर्तन और मानवीय मूल्यों को संवारने की कोशिश में संघर्षरत युवा पिढ़ी की कशमकश, वेदना एवं त्रासदी को जान सकेंगे। आइए, अब इस इकाई का विस्तार से अध्ययन करते हैं।

6.1 प्रस्तावना

दलित साहित्य की अन्य विधाओं की तरह ही दलित कहानी भी सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक अभिसरण की प्रक्रिया का प्रतिफलन रही है। साठोत्तरी समय में दलित साहित्य ने गौतम बुद्ध, फुले, मार्क्स और डॉ. आंबेडकर आदि के विचार, संघर्ष तथा आंदोलन से प्रेरणा लेकर स्वतंत्र सैद्धांतिकी को उपस्थित किया। इस सैद्धांतिकी का विकास कविता के बाद कहानी विधा में मुखर होता रहा है। कहानी के क्षेत्र में बाबुराव बागूल के प्रयासों से नयी चेतना और सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा का स्वर उभरता गया है। बागूल के द्वारा मराठी दलित कहानी में अनुभवात्मक यथार्थ की अभिव्यक्ति तथा मनुष्य केंद्रित जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा हुई थी। 'दलित' शब्द की व्यापक परिभाषा में समाज के प्रत्येक शोषित-वंचित वर्ग के चरित्रों को नायकत्व प्रदान किया जाने लगा था। साहित्य लेखन का यह प्रवाह बागूल के बाद निरंतर गतिशील रहा। इस दलित साहित्य लेखन की प्रवाह-परंपरा को अत्यंत संवेदनशीलता और सामाजिक प्रतिबद्धता से दिशा देने वाले रचनाकारों में अर्जुन डांगळे का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

अर्जुन डांगळे साठोत्तरी मराठी दलित साहित्य आंदोलन के प्रमुख हस्ताक्षर हैं। वे महाराष्ट्र में समान्तर रूप से चलाये गए दलित साहित्य आंदोलन के साहसी लेखक हैं। दलित साहित्य आंदोलन का उद्भव 09 जुलाई, 1972 को 'दलित पैंथर' नामक संगठन की स्थापना से हुआ था। इस आंदोलन के मुख्य नेताओं में से एक अर्जुन डांगळे हैं। उन्होंने डॉ. आंबेडकर के विचारों से प्रेरणा लेकर विविध सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक और राजनीतिक विचारधाराओं का अध्ययन किया है। जिससे दलित जीवन के आंतरिक अर्थ को समझने की दृष्टि और जीवन में परिवर्तन लाने की चिंतन क्षमता का विकास उनके व्यक्तित्व में होता रहा है। परिणामस्वरूप उनका लेखन भी समाज के

विशिष्ट जीवन मूल्यों पर केंद्रित-संघर्ष का यथार्थ बोध, अस्तित्व की पहचान, स्वाभिमान, दलित अस्मतत, नकार और विद्रोह, परिवर्तन की चाहत, सामाजिक समता की अभिलाषा तथा मानवतावाद आदि कई पहलुओं की सार्थक अभिव्यक्ति उनकी रचनाओं में हुई है।

प्रस्तुत इकाई अर्जुन डांगळे की 'बुद्ध ही मरा पड़ा है' कहानी पर आधारित है। यह कहानी उनके सन् 1979 में प्रकाशित 'ही बांधावरची माणसं' (उपेक्षित मानव) इस मराठी कहानी संग्रह में संकलित है। इस संग्रह की कहानियाँ सामाजिक व्यवस्था में गावों की सरहदों पर उपेक्षितों का जीवन व्यतीत करने वाले लोगों पर होने वाले अन्याय-अत्याचार का यथार्थवादी बयान है। 'बुद्ध ही मरा पड़ा है' यह कहानी अर्जुन डांगळे की सूक्ष्म निरीक्षण क्षमता और व्यक्ति मर्म में पैठने के सामर्थ्य का परिचय है। दलित आन्दोलन में सक्रीय कार्यकर्ताओं के संघर्ष और नवजाग्रत दलित समाज के अंतर्विरोधों का चित्रण इस कहानी में है। डॉ. आंबेडकर के पश्चात राजनीतिक और वैचारिक स्तर पर मार्गदर्शन के अभाव में दलित आंदोलन दिशाहीन होता गया। दलित वर्ग में भी कुछ अवसरवादी और स्वार्थी नेता उभर आए जो खुद को ही दलित आंदोलन के पुरोधा मानते रहे। उनकी अपरिपक्व समझ के कारण राजनीति लाभ हेतु विपरीत विचारधाराओं से गठबंधन करने से दलितों के प्रश्न पीछे छूटते गए। दलितों का सामाजिक-मानसिक गुलामी से मुक्ति का आंदोलन शिथिल हो गया था। महाराष्ट्र में दलित समाज की प्रमुख तीन जातियां 'महार', 'मातंग' और 'चमार' के बीच की अंतर्विरोधी स्थितियों, परंपरागत मानसिकता और जातीय भेदभाव के संदर्भों का आलोचनात्मक यथार्थ कहानी में अभिव्यक्त हुआ है। व्यक्तिपूजा, मूर्तिपूजा और विभूतिपूजा को नकारने वाले डॉ. आंबेडकर बुद्धिवाद तथा मानवीय समता के समर्थक थे। दलित वर्ग के लोग कही इसे भूल न जाए, परंपरागत अंधविश्वास एवं कर्मकांड की वजह से उनकी दृष्टि संकुचित न हो पाए। इसलिए नव चेतना और परिवर्तन की आकांशा का स्वर भी व्यापक करने का पक्ष कहानी की अंतर्वस्तु में आलेखित हुआ है। आइए, इन्ही कुछ सम-सामायिक बिंदुओं के आलोक में कहानी का अध्ययन करते हैं।

6.2 अर्जुन डांगळे : जीवनवृत और लेखन परिचय

अर्जुन डांगळे मराठी दलित साहित्य के प्रमुख रचनाकार है। उनका जन्म सन. 1944 में मुंबई के झोपड़पट्टीनुमा इलाका 'माटुंगा लेबर कैम्प' में हुआ। यह इलाका मुंबई में होने वाले सामाजिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक गतिविधियों का मुख्य केंद्र रहा है। जहाँ पर महाराष्ट्र के गावों से आने वाले दलितों, मजदूरों, कारीगरों एवं उपेक्षितों की एक दुनिया निवास करती आ रही है। इस माटुंगा लेबर कैम्प में रहते हुए अर्जुन डांगळे ने दलित जीवन के दारूण अनुभवों को सहा। बचपन में सुख-सुविधाओं से वंचित जीवन मात्र घोर गरीबी, दरिद्रता और अर्थाभाव में गुजरा। जीवन की भीषण स्थितियों एवं कठोर सामाजिक यथार्थ से संघर्ष करते हुए उन्होंने अपनी उच्चशिक्षा पूर्ण की। माटुंगा लेबर कैम्प में ही उनकी माता शांताबाई के मामा कॉ. शंकर नारायण पगारे कम्युनिस्ट आंदोलन के प्रमुख कार्यकर्ता थे। जिनके यहाँ आण्णा भाऊ साठे, गीतकार शंकर शैलेन्द्र, बलराज सहानी, ए. के. हंगल, शाहीर गव्हानकर, नारायण सुर्वे आदि रचनाकारों एवं कार्यकर्ताओं का आना-जाना होता था। इनसे बचपन के दिनों से ही अर्जुन डांगळे का संपर्क बना रहा। बाबुराव बागूल भी माटुंगा लेबर कैम्प के निवासी रहे हैं, जिनका स्नेह भी उन्हें बचपन से मिला। आगे चलकर दलित साहित्य आंदोलन की बहुतांश गतिविधियों में बागूल के साथ रहकर उन्होंने कार्य किया। वे अपने छात्र जीवन से ही सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक तथा राजनीतिक आंदोलनों में सक्रीय रहे। डॉ. आंबेडकर के पश्चात् 'रिपब्लिकन पार्टी' में वैचारिक तथा राजनीतिक मतभिन्नता के चलते रिपब्लिकन पार्टी अनेक गुटों में विभाजित हुई जिससे दलित आंदोलन में भटकाव तथा अवसान की स्थितियाँ पैदा होती रहीं। दलित आंदोलन

के लिए एक मंच हो और उसी मंच से दलित नेताओं के समन्वयात्मक नेतृत्व में दलितों के सामाजिक-आर्थिक प्रश्न और मानवीय अधिकारों का पक्ष रखा जाए ऐसी मंशा अधिकतर दलित वर्ग की थी। अर्जुन डांगळे सहित बहुत से दलित कार्यकर्ताओं ने राजनैतिक एकता स्थापित करने के प्रयास किये। यद्यपि उनका यह प्रयास नेताओं की अपनी-अपनी वैचारिक तथा राजनैतिक मान्यताओं की वजह से असफल रहा। दलितों को राजनैतिक अस्थिरता तथा नेतृत्व के अभाव में न्याय मिलना कठिन होता गया। इन्हीं दिनों एक ओर साहित्य के क्षेत्र में नयी युवा पीढ़ी दलितों की वेदना, अस्मिता, आत्मसम्मान, जीवनसंघर्ष और विद्रोह की अभिव्यक्ति द्वारा जागृति लाने और भारतीय समाज को समतामूलक बनाये जाने की कोशिश कर रही थी। अत्याचारों से मुक्ति पाने की दिशा में संघर्ष चेतना का विस्तार हो रहा था तो दूसरी ओर दिनों-दिन गावों में दलितों पर अन्याय-अत्याचार लगातार बढ़ रहे थे। दलित साहित्य आंदोलन में सक्रीय युवा पीढ़ी ने यह महसूस किया की दलितों पर बढ़ते जा रहे अन्याय-अत्याचारों के खिलाफ केवल साहित्यिक अभिव्यक्ति कारगर नहीं हो सकती। साहित्य आंदोलन के साथ सामाजिक आन्दोलन भी चलाना जरूरी है। इन्हीं दिनों मुंबई के सिद्धार्थ कॉलेज के छात्रावासों में रहने वाले दलित एवं अदलित युवकों ने संयुक्त रूप से 'युवक आघाडी' की स्थापना की। जिसमे अर्जुन डांगळे, दया पवार, नामदेव ढसाळ, ज. वि. पवार, अरूण कांबळे, राजा ढाले, प्रल्हाद चेंदवनकर आदि दलित युवा रचनाकार सक्रिय थे। ये सभी रचनाकार अमेरिका के अश्वेत क्रान्तिकारियों के साहित्य एवं उनके 'ब्लैक पैंथर' से परिचित हो गए थे। दलित, 1972 को 'दलित पैंथर' की स्थापना की। 'युवक आघाडी' तथा 'दलित पैंथर' की स्थापना में और उनकी गतिविधियों में अर्जुन डांग्ळे ने अग्रणी भूमिका निभाई है।

अर्जुन डांगळे ने कविता, कहानी, आलोचना, दलित साहित्य तथा दलितों के राजकीय, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक प्रश्नों पर भरपूर वैचारिक लेखन किया है। उनके साहित्य सृजन का आरंभ कविता लेखन से हुआ। आरंभिक समय में उनकी बहुतांश कविताएँ अस्मितादर्श, साधना, मराठवाडा, आम्ही, मागोवा आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई है। प्रथम कविता संग्रह 'छावनी हलते आहे' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। इस कविता संग्रह में जागृत दलितों की सवेंदनाओं को शब्दबद्ध किया गया है। यह संग्रह परंपरागत मराठी साहित्य से अलग दलित साहित्य के नए सौंदर्यबोध का आख्यान है। कविताएं दलितों की वेदना और विद्रोह के संदर्भों को उजागर करती हैं। हिंदू संस्कृति एवं वर्ण व्यवस्था के शोषणकारी मूल्यों को नकारती हैं। सामाजिक क्रांति की दिशा में संघर्ष की चेतना का बोध देती हैं। 'ही बांधावरची माणसं' कहानी संग्रह सन् 1979 में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह की कहानियों की मूल चेतना समाज में बरसों से शोषित-पीड़ित दलित-उपेक्षित वर्ग की विडम्बनापूर्ण जीवन गाथा रही है। गावों में दलितों के साथ प्रत्यक्ष जीवन में घटित अन्याय और अत्याचार की घटनाओं तथा उनके सामाजिक-आर्थिक संदर्भों की यथार्थवादी स्थितियों को कहानियों में मुखर किया गया है। कहानियों के चरित्र प्रतिदिन भूख से लड़ते हुए अगले दिन की प्रतीक्षा करते रहते हैं। भूख से अनंतकाल तक के संघर्ष की कहानियाँ दलित जीवन के सत्य को उकेरती हैं। सवर्णों द्वारा तिरस्कार, धार्मिक-जातीय दबाव, अस्पृश्यता आदि के आघात सहते हुए पीड़ादायक अनुभवों का यह त्रासद जीवन जीने की मजबूरी दलित जीवन की वास्तविकता है। पितृसत्तात्मक समाज में दलित पुरुष से अधिक दलित नारी पर तिहरे शोषण को झेलती हैं। उस शोषित ग्रामीण दलित नारी के जीवनसंघर्ष तथा व्यथाओं को अतिसंवेदनात्मक धरातलपर मानवीय दृष्टि से कहानियों में चित्रित किया गया है। दुःख, अवमानना, अपमान, घृणा तिरस्कार एवं वेदना को सहते हुए भी सामाजिक न्याय के लिए संघर्षरत रहने वाले दलित सरोकारों का पक्ष अर्जुन डांगळे ने 'ही बांधावरची माणसं' कहानी संग्रह में रेखांकित किया है। चंद्रकांत बांदिवडेकर लिखते हैं - अर्जुन डांगळे ने दलित नारी पर होने वाले अत्याचारों को सशक्त अभिव्यक्ति दी है।

दलित मन के संघर्ष के साथ कशमकश को भी व्यक्त किया है। खासकर दलित जातियों के बीच के आपसी वैमनस्य और जात्याभिमान पर उन्होंने तीखी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की है। (मराठी साहित्यः परिदृश्य, चंद्रकांत बांदिवडेकर, पृष्ठ-158)

दलित आंदोलन में सक्रिय रहते हुए अर्जुन डांगळे समय-समय पर दलित साहित्य तथा सामाजिक, आर्थिक, राजकीय मुद्दों पर वैचारिक लेखन भी करते रहे हैं। उनके स्वतंत्र विचार तथा कई आलेख अस्मितादर्श, साधना, मराठवाडा, आम्ही, मागोवा, महाराष्ट्र टाइम्स, नवकाळ, लोकसत्ता, प्रबुद्ध भारत, आम्रपाली, सत्यचित्र, रुचि, केसरी, तक्षक, प्रवर्तनाय, सारांश, नवभारत, दस्तखत, साप्ताहिक दिनांक आदि पत्र-पत्रिकाओं में छपे हैं। जिसे आगे चलकर उन्होंने पुस्तक के रूप में 'दलित साहित्यः एक अभ्यास' तथा 'दलित विद्रोह' शीर्षक से प्रकाशित किया। इन दोनों किताबों में संकलित उनके आलेख दलित आंदोलन, राजनीति, सामाजिक-सांस्कृतिक सरोकार, समाज जीवन की वास्तिवकता, दलित साहित्य की विकासयात्रा, साहित्य समीक्षा, दलित साहित्य के आलोचनात्मक प्रतिमान एवं दलित लेखन की वैचारिकी को स्पष्ट करते हैं। इसके अतिरिक्त महाराष्ट्र राज्य साहित्य एवं संस्कृति मंडळ में सचिव के पद पर कार्य करते समय मराठी के प्रसिद्ध लेखक अण्णा भाऊ साठे साहित्य का 'लोकशाहीर अण्णा भाऊ साठे : निवडक वाड़मय' शीर्षक से संकलन-संपादन किया है। दलित रचनाकारों की कहानियों का 'द पॉइझन ब्रेड' में अनुवाद किया है जो राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बहुत चर्चित रहा है। अतः समूचे दलित आंदोलन में अर्जुन डांगळे की छवि एक प्रतिबद्ध रचनाकार, आलोचक, संस्कृतिकर्मी तथा जुझारू राजनीतिज्ञ की रही है। उन्हें महाराष्ट्र राज्य पुरस्कार से सम्मानित किया जा चुका है।

6.3 बुद्ध ही मरा पड़ा है : नवजाग्रत दलित समाज के अंतर्विरोध

कहानीकार अर्जुन डांगळे की 'बुद्ध ही मरा पड़ा है' कहानी स्वातंत्र्योत्तर समय में दलित जातियों में उभरे अंतर्विरोधों को रेखांकित करके, उनके मूलभूत कारणों पर प्रकाश डालती है। कहानी की केन्द्रीय कथावस्तु में महाराष्ट्र के दलित समुदाय के दो प्रमुख घटक महार और मातंग वर्ग में आपसी भेदभाव को प्रश्रय देती जाति-व्यवस्था का मार्मिक और भयकारी यथार्थ प्रकट हुआ है। स्वतंत्रता के बाद डॉ. आंबेडकर के विचारों से प्रेरित शिक्षित युवा पीढ़ी दलित सम्मान और उन्नति के लिए छेड़े गए सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन में सक्रिय थी। यह युवा पीढ़ी शिक्षा के लिए गावों से शहरों में आकर बसी थी। जबकि उनका परिवार गावों में ही रहता था। शहरों की चकाचौंध और विकास से दूर अलगाव वंधना की शिकार यह युवा पीढ़ी बदलते वातावरण, नये सांस्कृतिक मूल्यों से आधुनिक विचार मूल्यों से पहली बार परिचित हो रही थी। शिक्षा के कारण जागृत मन में अपने अस्तित्व तथा पहचान के सवाल पैदा होने लगे थे। दलितों के सामाजिक अभावग्रस्त स्थिति का तीव्र अहसास उनमें विद्रोह, आक्रोश भरने लगा था। वे दलितों की गरीबी, अर्थाभाव, उपेक्षा, अवमानना, शोषण के सामाजिक-आर्थिक तंत्र की बनावट को समझने लगे थे। गावों में दलितों पर होने वाले अत्याचार, अछूत कहकर दी जानेवाली यंत्रणा की छवियाँ उनके मानस में उथल-पुथल पैदा करती थीं। यह युवा वर्ग दलितों को अन्याय-अत्याचारों से मुक्ति दिलाने की दिशा में अग्रसर था। दलित युवक अपनी शिक्षा के साथ-साथ डॉ. आंबेडकर के विचारों से प्रेरित आंदोलन में सक्रिय भूमिका में दिखने लगा था। जब भी वे अपने गांव जाते तो अभाव में दलितों की ठहरी हुई जिंदगी में परिवर्तन लाने के लिए चिंतित हो उठते। कहानी की कथावस्तु में इन नवजाग्रत दलित युवा वर्ग के सामाजिक सरोकार और दलित जीवन के सामाजिक-आर्थिक सन्दर्भों की गइराई को उभारने की कोशिश रचनाकार ने की है।

6.3.1 शिक्षित युवा नेतृत्व की वेदना, व्यथा और आत्मसंघर्ष

'बुद्ध ही मरा पड़ा है' कहानी का प्रमुख चरित्र अशोक दलितों के जीवन में परिवर्तन लाने और सामाजिक एकता की कोशिश करने वाला जागृत दलित युवक है। उसकी जागृति एवं प्रेरणा के मूल स्रोत गौतम बुद्ध, महात्मा जोतीराव फुले और डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर के आंदोलन और विचार रहे हैं। वह 'दलित पैंथर' आंदोलन के समय का महत्वपूर्ण नायक रह चुका है। अब वह एक स्कूल में नौकरी करता है और शहर में रहकर अपनी एल.एल.बी की शिक्षा पूरी कर रहा है।

सामाजिक प्रतिबद्धता के तहत दलितों के जीवन में सुधार लाने के लिए अपने स्तर पर वह प्रयासरत है। समतामूलक समाज की चाहत उसकी मन चेतना पर छा चुकी है। डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर ने सन् 1937 में जातीय समस्या के बारे में समाजवादियों को एक इशारा किया था। 'आप किसी भी दिशा में जाने का प्रयास करेंगे, तो भारतीय समाज के प्रत्येक रास्ते पर जातीयता का दानव आपका मार्ग रोके खड़ा मिलेगा। उसका वध किए बिना आप आगे नहीं बढ़ सकते। अर्थात् 'जातीय समस्या' का निराकरण किये बिना आप न तो राजनीतिक सुधार ला सकते हैं और ना ही आर्थिक क्रांति कर सकते हैं।' (जाति-भेद का उच्छेद, डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर, पृठ-26) इन विचारों के प्रेरणास्वरूप कथानायक अशोक मुंबई के विधायक निवास में समाजवादी पार्टी के विधायक पाटील के साथ विवाद करता है। दलितों के साथ गावों में होने वाले भेदभाव के बारे में पाटील को सवाल करता है की 'क्यों पाटीलजी आप की पार्टी तो समाजवाद की गपडचौथ करती है। आप लोग तो हमें अपने कुएँ पर पानी तक भरने नहीं देते। क्या यही आप का समाजवाद है।' तब पाटील ने उसे यह कहकर छेड़ा था की 'आप सभी सामाजिक परिवर्तन की बात करते हैं, लेकिन तुम्ही बौद्ध लोग मातंगों को अपने कुएँ पर पानी नहीं भरने देते? पहले अपने आप को देखो और फिर हमसे डायलॉग करो।' अशोक जैसे बुद्धिजीवी के मन और मस्तिक में इस उलहाने ने हलचल पैदा कर दी थी। बिरादरी में पड़ी इस दरार का बोध कराने वाले पाटील की फटकार ने उसे मर्मान्तक पीड़ा ही नहीं दी बल्कि दलित आंदोलन कर्ताओं की जाति संरचना को बदल देने के विचार में त्रुटि की ओर भी ध्यान दिलाया। इसीलिए वह गांव में जाकर दलित वर्ग के बीच पड़ी दरार को पाटना चाहता है। अशोक ने इसे सच्चाई में बदलने के लिए दलित बस्ती में सामूहिक बैठक का आयोजन किया हुआ है। कहानी के आरंभ में ही इस बैठक का उल्लेख हुआ है। वहां अशोक अपने चचेरे भाई संपत के साथ मिलकर दोनों उपजातियों में भाईचारा स्थापित करने के लिए कोशिश करता है। बैठक में महार समाज के लोग मातंग समाज के लोगों से इसलिए नाराज हैं कि मातंगों ने बौद्ध धर्म का अनुपालन नहीं किया है। डॉ. आंबेडकर ने असमतावादी, भेदभावजनक प्रवृत्तियों को प्रक्षय देने वाले हिंदू धर्म को त्यागने की घोषणा सन् 1935 में येवला की जनसभा में की थी। 'मेरा जन्म भले ही हिंदू धर्म में हुआ हो। जन्म लेना मेरे बस की बात नहीं थी। लेकिन मैं हिंदू धर्म में मरूँगा नहीं।' इसे उन्होंने 14 अक्टूबर, 1956 में नागपुर में बौद्ध धर्म को अपनाकर पूरा किया।

डॉ. आंबेडकर के आह्वान पर महार समाज सहित बहुतांश दलितों ने धर्म परिवर्तन किया। अब वे नव बौद्ध थे। इस परिवर्तन की लहर में अशोक के गांव के मातंग शामिल नहीं हो पाए थे। लेकिन अशोक समय के साथ होने वाले परिवर्तन के प्रति आस्थावान है। बैठक में संपत ही अशोक का प्रस्ताव लोगों के समक्ष रखता है। 'मातंगों को हम सब अछूत मानते हैं, यह गलत है। वे तो सब अपने भाई ही हैं। पुराण में भी हमारे भाईचारे की कहानी है।' लेकिन सभा में शामिल महार इससे सहमत हुए बिना अपनी बात पर अडिग थे। 'ये पुराण-कथाएँ हमें मत सिखाओ। पहले उन मातंगों को बौद्ध धर्म का अनुपालन करने को बोलो।

महार वर्ग और अशोक के बीच का मतभेद दूर नहीं हो पाया इसलिए अपनी व्यथा इन शब्दों में व्यक्त करता है -

"मातंगों को बौद्ध धर्म का अनुपालन करना चाहिए, इस बात से मैं भी सहमत हूँ। परन्तु इसमें अभी वक्त तो लगेगा। धर्म परिवर्तन के लिए मानसिक बदलाव को अभी समय लग सकता है। यह प्रक्रिया अपने आप शुरू है। आप सभी ने समाचार-पत्र में पढ़ा होगा कि अभी हाल में पूना के सभी मातंगों ने सामुदायिक रूप में बौद्ध धर्म का स्वीकार किया है। धीरे-धीरे यह सब जगह होगा। यह बात गलत है कि जब तक वे बौद्ध धर्म नहीं मानते तब तक उनसे बराबरी का बर्ताव न करें। यह निर्णय बाबासाहेब के विचार-दर्शन के खिलाफ है। वे सिर्फ महारों के नहीं सब दलितों के नेता थे।"

यद्यपि इसी विवाद में मातंगों ने आंदोलन में हिस्सा क्यों नहीं लिया, चुनावों में सहयोग क्यों नहीं दिया तथा अभी तक मुर्दा मांस खाना क्यों नहीं छोड़ा? इस तरह के सवाल महार मंडली उपस्थित करती है। अशोक उन्हें समझाने की कोशिश करता रहता है। बाबासाहेब के विचार, चिंतन तथा उद्देश्य को उनके समक्ष रखने कि कोशिश करने के प्रयास में वह उन्हें बताना चाहता है कि किस प्रकार वे समता, स्वतंत्रता और भाईचारे के मूल्यों की ही अवहेलना कर रहे हैं। डॉ. आंबेडकर के दर्शन को नकारने वाले अपने लोगों की हटधर्मिता देखकर अशोक आश्चर्यचकित था। सदियों से अस्पृश्यता के अभिशाप से झुलसते अपमानित मन क्योंकर इस बात को नहीं समझ पा रहे हैं कि, अपमानित वर्ग अपने ही बिरादरों से अस्पृश्यता का व्यवहार करने कि भूल कर सकते हैं। उनके सामने उसके सभी तर्क बेकार साबित होते हैं। अशोक महार और मातंगों के बीच की भेदभावपूर्ण स्थिति को मिटाने के लिए बड़े आत्मविश्वास से अपने देहात पहुंचा था, लेकिन उसे मोहभंग का सामना करना पड़ता है। मन में क्षोभ, वेदना तथा पीड़ा पैदा होती है। गांव की बैठक में प्रकट विचारों के द्वारा कहानीकार ने दलित आंदोलन के शिक्षित युवा नेतृत्व के आत्मसंघर्ष को वाणी दी है।

डॉ. आंबेडकर के बाद उभरे दलित नेतृत्व द्वारा समुदाय के एकत्रीकरण, वैचारिक अभिसरण की प्रक्रिया को निश्चित दिशा देने में कामयाबी न मिलने के कारण निर्मित हुई संक्रमण की स्थितियों का यह दौर है। दलित आंदोलन उचित नेतृत्व के अभाव में दिशाहीन होता रहा है। अशोक को लगता है की गांव के दलित अशिक्षित होने के कारण उसके समतावादी प्रस्ताव को खारिज करते हैं। उसे डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर की प्रेरणा से आई चेतना एवं जागृति के बाद भी महार समाज हिंदू धर्म के विषमतावादी मानसिकता में ही जकड़ा हुआ दिखाई देता है। वह पाटील के दिए उलहाने को झूठा साबित करने और समता के मूल्य को अपनाकर भाईचारे के तत्व को गले लगाने वाले समूह मन को देखने की चाह में गांव आया था। यह देखकर दंग रह गया कि छुआछूत से सदियों तक अपमानित दलित वर्ग अपने ही समूह के एक हिस्से के साथ अपमानजनक व्यवहार करने पर उतारू है। हिंदू धर्म के प्रभाव से अभी भी वे निकल न सके थे। बैठक में हुए पराजय के कारण उसका अंतर्मन वेदना और पीड़ा से भर गया। वह रात भर चिंता में डूबा रहा। उसे अपने बीते दिन याद आने लगे। जब वह पैंथर के आंदोलन में सक्रिय था, तब वह अपने गांव नहीं गया था और गांव के लोग ही तालुक में हुई एक सभा में उसे मिले थे। अशोक की यह स्थिति दलित आंदोलन के अवसान के कारण आत्मसंघर्ष से गुजरने वाले दलित युवा कार्यकर्ता के जीवन सरोकारों को उजागर करती है। लेकिन उसे एक बात का संतोष था कि सिर्फ वह था इसलिए गांव के बिरादरों ने उसका अपमान नहीं किया। दूसरा कोई होता तो उसे कच्चा चबा जाते। कहानीकार का उद्देश्य अशोक के उपरोक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि जातिव्यवस्था के प्रभाव से दलित वर्ग भी मुक्त नहीं हो पाया। जबकि जाति के वर्ण-जातिगत श्रेणीबद्ध संरचना के कारण वे सबसे अधिक पीड़ित है। डॉ. आंबेडकर के

दर्शन को चेतना के स्तर पर अपनाए जाने तथा उसे सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में आपसी भाईचारा व समता के रूप में स्वीकृत करने में बहुत अंतर दिखाई देता है।

6.3.2 मानवीय मूल्यों के लिए संघर्ष

अशोक को अपने समाज की परंपरागत मानसिक गुलामी से मुक्ति के बारे में सोचने लगा। वह दलित उपजातियों में फैले जातिवाद को मिटाने का संकल्प कर चुका था। दूसरे दिन बौद्ध मंदिर में होने वाली मीटिंग में सामाजिक एकता के मुद्दे पर फिर से बात करने की ठान लेता है। दूसरे दिन उसे यह जानकारी प्राप्त होती है की मातंगों को अपने कुएँ पर पानी भरने देने में किसी का विरोध नहीं हैं, लेकिन गांव के मुखिया लोग रावसाहब के वर्चस्व के कारण निर्णय लेने की हिम्मत नहीं कर पाते। रावसाहब रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इंडिया के एक छुटभैया नेता है, उपलिल्हा बौद्ध सभा के वे अध्यक्ष है और इसी के चलते गांव में बुद्ध विहार के निर्माण की योजना बनाई है। जिसके लिए रावसाहब और तानाजीराव गांव-गांव घुमकर चंदा इकट्ठा कर रहे थे। अशोक ने भी सहयोग करने के उद्देश्य से शहर से साढ़े तीन हाजार रूपए का चंदा इकट्ठा किया था। उसने यह महसूस किया कि रावसाहब ही गांव में महार और मातंग उपजातियों में दरार डालने कि राजनीति कर रहे हैं। तो उसने चंदा देने से इनकार कर दिया। बुद्ध विहार निर्माणकर्ताओं कि संकीर्ण मानसिकता और हठधर्मिता को देखकर अशोक व्यथित होता है।

"हम सब जब-जब दूसरों से सामाजिक न्याय की अपेक्षा करते हैं, तब हमें भी दूसरों के प्रति ऐसा ही व्यवहार करना चाहिए।...किये हुए वादे के मुताबिक मैं मुंबई से साढ़े तीन हजार स्पए चंदा इकट्ठा कर लाया हूँ, लेकिन जब तक हम मातंगों को हमारे कुएँ से पानी भरने नहीं देते, तब तक मैं यह चंदा आपको नहीं दूँगा। क्योंकि यह बुद्ध और बाबासाहेब के दर्शन के विपरीत आचरण है। जिस बुद्ध ने समानता के लिए...।"

बीच में ही रावसाहब उसे रोकते हुए कहते हैं कि, 'यहाँ मातंगों का संबंद्ध कहाँ आता है?' तो अशोक कहता है- आता है, आखिर वे भी तो इंसान है। रावसाहब को अशोक की बात अपमानजनक लगती है। वे गुस्से में आकर अशोक को टोकते है। 'तुम बौद्ध धर्म फैलाने जा रहे हो या बिगाड़ने ? अरे, तुम बौद्ध दर्शन की बात करते हो, तो फिर बताओ की मातंगों ने बौद्ध धर्म का अनुसरण क्यों नहीं किया? तानाजीराव भी रावसाहब के पक्ष में खड़ा होता है और अशोक को चेतावनी देता है। तुम अगर चंदे का पैसा नहीं देना चाहते तो मत दो, हम तुम्हारे भरोसे या सहारे नहीं बैठे हैं और अशोक सोचने के लिए समय मांगता है। कहानी के इस प्रसंग में एक ओर अशोक जहाँ बुद्ध विचारों के मूल्यों की स्थापना के लिए संघर्ष कर रहा है, तो दूसरी ओर रावसाहब, तानाजीराव आदि पात्र अपनी प्रतिष्ठा को बनाए रखने के दावपेंच लड़ा रहे हैं। उन्हें दलित वर्ग में दरार पैदा करके स्वार्थ पूर्ण राजनीति में सफलता अधिक महत्वपूर्ण लगती है। डॉ. आंबेडकर और बुद्ध के दर्शन तथा मूल्यों के विपरीत वे आचरण कर रहे हैं, इसका उन्हें अहसास नहीं है। राजनीति के इस बदलते चरित्र से पैंथर्स की नई पीढ़ी विचलित होकर, अर्जुन डांगळे इस मानसिक द्वंद्व को रेखांकित करके समाज के विचलन को उजागर करते हैं। राजनीतिक नेतृत्व की खामियों, कमियों, स्वार्थनिहित की वे खुलेआम आलोचना करते हुए नजर आते हैं।

दलित समुदाय के इस अंतर्द्वंद की स्थिति को दो प्रकार से समझा जाना जरूरी है। पहला है अस्पृश्यता के दंश से आहत समाज में परिवर्तन चेतना के प्रभाव को अलग-अलग तरह से ग्रहण करने की मानसिकता का। परिवर्तन की चेतना से जाग्रत विवेकपूर्ण सोच का। दूसरा पक्ष है आजीविका की चिंता में हिंदू धर्म के दबाव-प्रभाव में परंपरागत गुलामी में जकड़े हुए दलित समुदाय; जो दलित वर्ग में पनपी राजनीतिक स्वार्थपूर्व प्रवृत्ति से अनभिज्ञ थे। पहली स्थिति वह है जिसमें सदियों से अस्पृश्यता के दंश को झेलते आ रहे समाज में

पुरातन, धर्म-रूठियों से मुक्तता का अहसास जगाया। यह समुदाय ब्राह्मणवादी परंपरा, धर्म-रूठियों, रीतियों से मुक्त होकर नयी पहचान बनाना चाहता है। इसलिए 1956 में डॉ. आंबेडकर के आह्वान पर लाखों दलितों ने हिंदू धर्म त्याग दिया और वे सभी बौद्ध धर्म में दीक्षित हुए। इससे पहले जातिप्रथा द्वारा निर्धारित काम जो उन्हें अपमानित करने और उनसे छुआछूत बरतने का माध्यम थे, को छोड़कर यह समुदाय सम्मानजनक स्वच्छ काम करने की ओर बढ़ रहा था। मुर्दामांस खाना उन्होंने छोड़ दिया। जिसके कारण कथित सवर्ण समुदाय उनसे घृणा और तिरस्कार का व्यवहार करना जायज मानता था। दलित मुक्ति आंदोलन से जगे अहसास और निर्मित चेतना ने दलितों में पहचान के प्रति एक दृष्टि जगाई। दूसरी ओर दलितों का ही एक वर्ग हिंदू धर्म द्वारा निर्मित भाग्यवादी और ईश्वरवादी प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाया। दलित-मुक्ति आंदोलन से निर्मित चेतना ने जिस प्रकार सम्मान, स्वाभिमान, पहचान का अहसास जगाया। वह उससे दूर रहने की कोशिश करता रहा। जिसका कारण था आय के साधनों के छीन जाने की चिंता। ये सभी मलिन समझे जाने वाले निकृष्ट कामों से ही जुडे हुए समुदाय थे। आमदनी बहुत अल्प होने के बावजूद अन्न से वंचित होने की त्रासदी से वे भयभीत थे। रोजी-रोटी के इस प्रश्न से वे आतंकित रहे थे और इसी स्थिति से समझौता करके दलित मुक्ति आंदोलन के उभार और प्रभाव से बचने की कोशिश करते रहे।

रिपब्लिकन पार्टी इस समय कई गुटों में विभाजित होकर स्वार्थ की राजनीति में लिप्त थी। डॉ. आंबेडकर की वैचारिकी को केंद्र में रखकर राजनैतिक मंच पर सामाजिक-आर्थिक मुद्दों को सुलझाने के प्रयासों से अधिक स्वार्थगत राजनीति ने दलित उपजातियों के बीच की दरारें अधिक गहरी कीं। बौद्ध धर्म स्वीकारने के मानवतावादी और सामाजिक परिवर्तन के उद्देश्य को बिसरा दिया गया। राजनीतिक दावेंदारी और स्वार्थ की राजनीति के समक्ष समता, स्वतंत्रता, बंधुत्व और न्याय के मूल्य तिरोहित हो गये। सामान्य दलितजनों की आर्थिक-सामाजिक स्थिति में परिवर्तन के स्थान पर आपसी वैमनस्य, द्वेष और तिरस्कार की प्रवृत्तियाँ बढ़ने लगीं। दिशाहीनता की स्थिति में दलित समुदाय अपनों से भी वैसा ही व्यवहार करने लगा, जैसा जाति अहं के कारण कथित सवर्ण उनके साथ सदियों से करता रहा। जिन ब्राह्मणवादी प्रवृत्तियों को नष्ट करके समतामूलक समाज की परिकल्पना बुद्ध, डॉ, आंबेडकर, महात्मा फुले, क्रांतिज्योती सावित्रीबाई फुले ने की थी, उसके साकार होने में दलित समूहों के बीच का आपसी अंतर्द्वंद बाधा बनने लगा था। जिससे मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के सवाल अनसुलझे रह गये।

6.3.3 दलित अंतर्विरोध और परिवर्तनवादी चेतना का विस्तार

गांव में दलित जातियों में कुएँ से पानी भरने को लेकर उभरे अंतर्विरोध की स्थिति चरम सीमा पर तब पहुँच जाती है, जब महार समाज अशोक के परिवार का सामाजिक बहिष्कार करते हैं। गांव के लोग अशोक के पिता की मृत्यु पर उनके शव को दफनाने से मना कर देते हैं। उसके चाचा चबूतरे पर बैठे लोगों से गिड़गिड़ाकर विनती करते हैं। पर वे सहयोग देने को राजी नहीं होते। उनके अनुसार अशोक गांव के खिलाफ है और बौद्ध विहार के चंदे का पैसा देने से मना करता है। अशोक पिता के देहांत की खबर मिलते ही जल्दी पहुँचने की हड़बड़ी में बैंक में रखे चंदे के पैसे ला नहीं पाता। एक तरफ शोक में डूबा परिवार है तो दूसरी ओर जाति पंचायत के फैसले का कठोरता से पालन करता दलित समाज। महार समुदाय अपनी जिद्द को पूरा करने के लिए अशोक के सामने शर्त रखता है कि पैसे भले ही न दो लेकिन अपने व्यवहार के लिए सब की माफी मांगे। अशोक इस दोगली नीति पर क्रोधित होकर चाचा से विद्रोही स्वर में कहता है कि 'उन्होंने हाथ नहीं लगाया और मातंगों ने बाप को दफ़नाया, तो क्या अण्णा पिशाच बनकर रहेंगे हमारे लिए।'

चाचा उसे समझाने की कोशिश करते हैं। माँ की असहायता और दुःख को कम करने को कहते हैं। आखिर माँ भी उसे मजबूर कर देती है। सामाजिक न्याय और परिवर्तन की दिशा में अग्रसर अशोक अंततः जाति पंचायत की शर्तें मानकर माफी मांगने के लिए तैयार होता है। परंपरागत मान्यताओं की यह विजय अशोक जैसे संघर्षशील युवाओं के परिवर्तनवादी विचार को ध्वस्त कर देती है। इस स्थिति का वर्णन है –

"अशोक का माथा सनसना रहा था। अपने ही रक्त और मांस के लोगों से पाई यह अमानवीय चोट अशोक को उखाड़ फेंक रही थी। उसकी सांसे बढ़ने लगी। उसने सामने देखा। सामने सब कौमे थीं। फिर उसने निचे देखा। बाप मुर्दा होकर पड़ा था। उसने फिर नजर हटाई और ऊपर देखा। उसने देखा कि बाप की तरह सचमुच बुद्ध ही मरा पड़ा है।"

दलित अंतर्विरोधों में जब परंपराओं में जकड़ी पुराना पीढ़ी की कठोरता शिक्षित नयी युवा पीढ़ी पर हावी हो जाती है। सबके प्रति विवेक आधारित सम्यक सोच एवं मानवीयता की दृष्टि रखने वाले व्यक्ति के लिए यह एक चुनौती बन जाती है। लेखक ने दलित वर्ग के भीतर चल रही उथल-पुथल, वैचारिक अंतर्विरोध, पूर्व-परंपराओं से मुक्ति की छटपटाहट, जात-बिरादरी की संकीर्णता को सशक्त अभिव्यक्ति देकर नई पीढ़ी में हुए वैचारिक बदलाव को रेखांकित किया है। हिंदू धर्म की गुलामी से मुक्ति मिलेगी तथा दलित जातिभेद का वे शिकार नहीं होंगे।

6.4 दलित राजनीति और अवसरवाद की आलोचना

दलित साहित्य आन्दोलन के साहसी मोहरा होने के कारण अर्जुन डांगळे दलित जीवन के जर्रे–जर्रे की जानकारी रखते है। रिपब्लिकन पार्टी की गुटबाजी, हिंदू धर्म व्यवस्था तथा राजनीतिक वर्ग की निरकुंशता के खिलाफ विद्रोह करने का साहस करते है। साहित्यिक अभिव्यक्ति के साथ–साथ अर्जून डांगळे प्रत्यक्ष रूप में दलितों पर होनेवाले अत्याचारों के विरोध में संघर्षशील रहे हैं। जातिविहीन समाज निर्मिति के लिए प्रतिबद्ध होकर कार्य करने वाले दलित रचनाकारों ने सामाजिक परिवर्तन की वैचारिकी को व्यापक आयाम दिये हैं। वे सिर्फ शासन–शोषण करने वाले अन्य समाजों की सत्ता और शोषकों के खिलाफ ही खड़े नहीं होते, बल्कि दलित समाज में व्याप्त ढकोसलें और दोगलेपन की भी तीखे स्वरों में आलोचना करते है। विवेक पर आधारित सम्यक दृष्टि का पुरस्कार करते है। सामाजिक परिवर्तन के लिए क्रांतिदर्शी विचार रखते हैं।

डॉ. बाबासाहेब आम्बेडकर ने 14 अक्टूबर, 1956 को हिंदू धर्म का त्याग किया और बौद्ध धर्म का स्वीकार कर लिया। यह दलित मुक्ति आंदोलन का चरम बिंदु है। बौद्ध धर्म को अपनाने के पीछे डॉ. आंबेंडकर की मान्यता थी कि इससे दलितों को हिंदू धर्म की गुलामी से मुक्ति मिलेगी तथा दलित जातिभेद की भावना से मुक्त होंगे।

दलित वर्ग बौद्ध दर्शन की वैज्ञानिकता, आधुनिक दृष्टि एवं सार्वभौमिकता के मूल्यों को अपनाकर समाज में सम्मान प्राप्त कर उन्नति कर सकेगा। यद्यपि डॉ. आंबेडकर के पश्चात् दलित आंदोलन में अवसरवादी नेतृत्व ने मोर्चा संभाला। उन्होंने अपने राजनीतिक स्वार्थ के लिए डॉ. आंबेडकर के विचारों को राजनीतिक स्वार्थ के लिए एक औजार के रूप में इस्तेमाल करना प्रारंभ किया। मिसाल के तौर पर साठ के बाद के समय में गुटबाजी के कारण दलित मुक्ति के सामाजिक-सांस्कृतिक, राजनीतिक आंदोलन का दिशाहीन और असरहीन होने के संदर्भों को देखा जा सकता है। दलित राजनीति में 03 अक्टूबर, 1957 को गठित 'रिपब्लिकिन पार्टी ऑफ इण्डिया' का व्यक्तिवादी स्वार्थपूर्ण नेतृत्व और आपस

में वैचारिक मतभेदों के कारण सन् 1959 में ही विघटन हुआ। जिससे बी. सी. कांबळे के नेतृत्व में एक 'दुरुस्त गुट' और दूसरा 'नादुरुस्त गुट' दादासाहेब गायकवाड के नेतृत्व में सक्रिय रहा। दादासाहेब गायकवाड के मृत्यु पश्चात् उनके गुट का नेतृत्व रा.सु.गवई ने किया, तो बॅ.खोब्रागडे ने अपना एक स्वतंत्र गुट बना लिया। सन् 1974 में यह सभी गुट एकत्रित हुए, लेकिन जल्दी ही फिर से वह सत्ता की खींचतान के कारण बिखर गए। यह सिलसिला अभी भी जारी है। 'दलित पैंथर' जैसी सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन भी सत्ता की भेंट चढ़ गया। राजनीतिक विघटन के कारण दलितों के बहुतांश प्रश्न पीछे छूटते गए हैं। इन स्थितियों में प्रत्येक नेतृत्व ने अपना जनाधार बढ़ाने के लिए कई राजनीतिक पैतरें अपनाये। सांगठनिक स्तर पर लिए गए निर्णय जल्दवाजी में लिए गए। जिसके परिणामस्वरूप बुद्ध, फुले और डॉ. आंबेडकर की विचारधारा और कार्य की दिशाएं सीमित होती दिखाई देती हैं। यह परिस्थितियाँ अर्जुन डांगळे जैसे पैंथर में शामिल प्रतिबद्ध संवेदनशील कार्यकर्ता, चिंतक और जागरूक व्यक्ति को बेचैन करती रही है। इन्हीं के संदर्भ कहानी में प्रत्यक्ष अनुभव के रूप में कथानायक अशोक के संघर्ष के रूप में रेखांकित हुए हैं।

'मातंग बस्ती से कुछ नौजवान मात्र अशोक के यहाँ आने-जाने लगे। कुएँ के पानी का प्रश्न बिना झगड़े के और मानसिक बदलाव से सुलझने की अशोक को आशा थी। लेकिन उसे गांव आने पर कोई भी चिन्ह दिखाई नहीं पड़ रहा था। अशोक पेड़ के साये में गड़ता जा रहा था। और तो और एक जमाने के 'पैंथर' के सबसे महत्वपूर्ण इस नायक को यह साया बहुत भीषण लगा रहा था। आंदोलन में हुई टूट-फूट और सामान्य लोगों पर इसके असर को न देखकर वह बेचैन हो गया।'

'क्यों अशोक तैयार हुए कि नहीं?'

'हाँ, सब आए क्या?'

'हाँ'

'कौन-कौन है?'

'खूब सारे हैं, बौद्ध सभा के सदस्य रावसाहब भी आए हैं।'

'वह.. वही ना, जो इलेक्शन में हारे थे?'

'हाँ वही। तुझे एक बात बताता हूँ। मातंगों को अपने कुएँ पर पानी भरने देने में किसी का भी विरोध नहीं हैं, लेकिन जो भी मुखिया लोग हैं, वे सब रावसाहब कि पूंछ पकड़े रहते हैं।'

'लेकिन मातंगों से विरोध क्यों?'

'अरे, समझा करो भाई। मातंगों ने वोट नहीं दिए, ऐसा रावसाहब का मानना है और ये सभी उसकी हाँ-में-हाँ मिलाकर मातंगों के खिलाफ।'

'अरे लेकिन आपस में ये भेदभाव कैसा?'

'वो सब तू ही देख अब।'

पार्टी के किस गुट में हैं वे?'

यह कहना मुश्किल है, गवई, खोब्रागडे, बिशी, कुनबी.. सब चलते हैं उसे।'

'अच्छा, चल निकलते हैं।'

वे मनुष्यता की दृष्टि से व्यक्ति के आचरण में भी बदलाव लाना चाहते थे। साथ-ही जातिव्यवस्था का उच्छेद करने की भी मंशा रखते थे। उसके लिए सामाजिक और आर्थिक संघर्ष के आंदोलन भी उन्होंने चलाये। राजनीति में सक्रिय रहकर सामाजिक न्याय और मानवीय अधिकारों के पक्ष में कार्य किया। उन्होंने सामाजिक परिवर्तन के लिए मानसिक गुलामी से मुक्त होने की चाहत रखी है। इस तरह के क्रांतिदर्शी सपने, आर्थिक आत्मनिर्भरता के विचार, सन्देश, अस्मिताबोध की वैचारिकी एवं संभावना की तलाश करने के विचारों का मार्ग डॉ. आंबेडकर ने प्रशस्त किया था। 'बुद्ध ही मरा पड़ा है' कहानी का नायक अशोक एक ओर इन सारी अवस्थाओं को महसूस करनेवाला अस्वस्थ एवं संघर्षशील नायक है। तो दूसरी ओर कहानी में रावसाहब और तानाजीराव जैसे चरित्र अवसरवादी प्रवृति वाले नेता-कार्यकर्ता भी हैं। जो दलबदलू राजनीति करते रहे और बौद्ध मंदिर बनाने के कार्य में जुटे हैं। उन्हें महारों और मातंगों के बीच पड़ी दरार कम करने में रुचि नहीं है। उल्टे वे मातंगों के वोट न देने से नाराज थे, उनकी देखा-देखी महार समाज भी उसी रास्ते पर चलता है। परिणामतः वह कहता है- हम सब जब दूसरों से सामाजिक न्याय की अपेक्षा करते हैं, तब हमें भी दूसरों के प्रति ऐसा ही व्यवहार करना चाहिए। हाँ, तो बंधुओं, किये हुए वादे के मुताबिक मैं मुंबई से साढ़े तीन हजार रुपए लाया हूँ, लेकिन आपको यह आश्वासन मुझे देना होगा कि हम अपने मातंग भाई-बहनों के साथ समता का व्यवहार करेंगे, उन्हें हमारे कुएँ पर पानी भरने से मना नहीं करेंगे तब तक मैं यह चंदा आपको नहीं दूँगा। बुद्ध और बाबासाहेब के दर्शन और विचार को अपने आचरण में लाना होगा। जबकि रावसाहब की मान्यता है 'मातंगों ने चुनाव में हमे वोट नहीं दिया और बौद्ध धर्म का अनुपालन अभी तक नहीं किया। इसलिये चंदा इकट्ठा करने तथा बौद्ध मंदिर निर्माण में मातंगों से हम सहयोग नहीं लेंगे। अशोक का मत है कि बुद्ध ने सभी की समता की बात की है, यदि हम बुद्ध धर्म अपना चुके हैं, तो हमारा कर्तव्य होगा कि हम इस कार्य में उन्हें शामिल करें। आखिर वे भी तो इंसान हैं।' मानवतावाद की व्यापक परिधि में की गयी अशोक की यह टिप्पणी रावसाहब जैसे अवसरवादी चरित्र की अधूरी सोच और बौद्धिक कमजोरी को उजागर करती है। राजनीतिक स्वार्थ, जातीय हितसंबंध और भेदभावमूलक नीति अपनाने वाले नेताओं की पोल खोलती है। बौद्ध दर्शन एवं सत्य विचारों को नकारने वाले अवसरवादी प्रवृत्तियों को आलोचना के कटघरे में खड़ा करती है।

6.5 परंपरागत जातिवाद के प्रति विद्रोह और संभावना की तलाश

अशोक द्वारा सामाजिक भेदभाव को दूर करने के लिए की जाने वाली पहल गांव के महार लोगों को रास नहीं आती। अशोक मज़बूरी में शहर से बौद्ध मंदिर के निर्माण के लिए लाये साढ़े तीन हजार रुपये को तब तक नहीं देने की शर्त रखता है, जब तक महार समाज के लोग मातंग समाज को अपने कुएँ पर पानी नहीं भरने देंगे। अशोक की इस हरकत से महार समाज क्रोधित होता है और उसके परिवार का बहिष्कार किया जाता है। बहिष्कार के इस कांड का सफर चरम सीमा पर तब पहुँचता है जब अशोक के पिता की मृत्यु होती है। अपने बाप की मृत्यु पर अशोक गांव वापिस आता है तो उसके अपने ही जाति वाले महार लोग उसके ऊपर आघात करते हैं। बाप के मुर्दा शरीर को श्मशान घाट ले जाने के लिए मना करते हैं। अशोक ने जो रकम जमा की थी उसकी मांग करते हैं। पर जल्दबाजी में अशोक रकम साथ नहीं लाया होता है। वह अपने चाचा से इस बारे में बताता है कि वो बाद में उनकी रकम दे देगा। फिर भी अपनी जिद्द पर अड़े लोग अशोक को माफ़ी मांगने को कहते हैं। अशोक चाचा से विद्रोही स्वर में कहता है कि, अगर मेरे बाप को महारों की जगह मातंग लोगों ने दफ़नाया तो क्या आण्णा पिशाच बनकर रहेंगे हमारे लिए।' अशोक के मन में वेदना से उपजी हुई नकार और विद्रोह की यह संवेदनाएं विवेकवादी

व्यक्ति के जीवन से तादात्म्य स्थापित करती हैं। वह सामाजिक जीवन में अंधविश्वास, प्रथा-परंपरा, कर्मकांड और प्रचलित जड़ मान्यताओं के प्रति विद्रोह करने का बोध देती है। विद्रोह करने की भूमिका में पहुंचे अशोक को मनाते हुए उसके चाचा दुःख-दर्द के हालातों को समझाने की कोशिश करते हैं। 'ये वैसी बात नहीं है, यह प्रथा है और फिर कौम का सवाल है। तू उल्टा सोचता है। लावारिस की तरह पड़े तेरे मुरदे बाप को देखकर तेरी माँ क्या सोच रही होगी, मालूम है।' तभी अशोक की माँ एकाएक अशोक के पैर पकड़कर रो-रोकर माफ़ी मांगने को कहती है। अपनी माँ की अवस्था और जिद्द की खातिर आखिर अशोक संभवी के लिए तैयार होता है। इस स्थिति में तो उसकी चेतना अत्यंत विद्रोही बन जाती है। उसका माथा सनसना रहा था। अपने ही लोगों से पाई अमानवी चोट से उसकी सांसे बढ़ने लगी। उसने सामने खड़े लोगों को देखा, फिर नज़र हटाई और ऊपर देखा। उसे अपने बाप की तरह सचमुच ही मरा पड़ा हुआ बुद्ध विचारों की हार और परंपरावादी दलित मानस की आलोचना कथाकार करते हैं। साथ ही एकसुरी बनते गए दलित आंदोलन को अपनी जगह दिखाने का साहस भी करते हैं। बुद्ध के मर जाने की बात विचारों के अवसान की संकेतक है। जिससे भविष्य में दलित नेतृत्व अपने आंदोलन की दिशा निश्चित करने की कोशिश करें। तो दलित समुदाय भी विवेकवादी दृष्टिकोण से संभावना के नये विकल्प चुन सकता है। इस तरह जीवनवादी दृष्टि से सोच-विचार के लिए चेतना निर्मिति की गुंजाईश बनाए रखने का प्रयत्न कथाकार ने सफलतापूर्वक किया है।

6.6 सारांश

मराठी भाषा में दलित साहित्य का अभ्युदय तथा विकास एक आंदोलन के तहत सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक अभिसरण के फलस्वरूप होता है। जिसका महत उद्देश्य शोषण आधारित सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाना रहा है। इसी परिवर्तन की शृंखला में मनुष्य की प्रतिष्ठा एवं मानवतावाद के मूल्यों की स्थापना करने का स्वर दलित लेखन में अग्रेसर रहता है। समय, समाज, एवं परिवेश के परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति जीवन की भयावह स्थितियों का अनुभव सापेक्ष यथार्थ चित्रण करने का पक्षधर दलित साहित्य रहा है। दलित साहित्य आंदोलन से जुड़ा हुआ प्रत्येक दलित रचनाकार साहित्य को साधन बनाकर मानवीय अधिकारों की लड़ाई को तेज करता हुआ नजर आता है। परिणामतः दलित रचनाकारों ने कलावादिता के तहत शिल्प संरचना के मानदंड और आस्वादन के साहित्यक मूल्यों को संवर्धन करने की आग्रही भूमिका न लेकर समाज जीवन की आलोचना करने का साहस दिखाया है। यह करते समय उनके लेखन में जीवन को संघर्ष के साथ जीने की उत्कट अभिलाषा प्रकट होती है। जीवन में दुःख-दर्द, वेदना और त्रासदी का बोध होने के बावजूद भी एक जीवट की तरह दलित जीता है। असीम धैर्य और त्याग के साथ सामाजिक न्याय एवं मानवीय अधिकारों को प्राप्त करने के लिए यथास्थितिवादी मौजूदा हालातों से लोहा लेता है। इन्हीं मूल्यों की अभिव्यक्ति दलित लेखन की महत्वपूर्ण विशेषताएं रही हैं। इन्हीं विशेषताओं के आईने में अर्जुन डांगळे ने 'बुद्ध ही मरा पड़ा है' कहानी का सृजन किया है। वे कथानायक अशोक के द्वारा मनुष्य की महत्ता को स्वीकार करते हुए मानवीय अधिकारों की लड़ाई को तेज करते हैं। रचनाकार को यह भली-भांति पता है कि सामाजिक विषमता का मूल जातिवाद है। वह भारतीय समाजव्यवस्था के प्रत्येक तबके में पल रहा है और जिसका उपयोग यथास्थितिवादी व्यवस्था को बनाये रखने का प्रमुख हथियार के रूप में किया जाता है। ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने दलित जातियों में जातिवाद की मान्यताओं को स्थापित करके अपनी शोषण की व्यवस्था को बरकरार रखा है। इस जाति की समस्या को मिटाए बगैर सामाजिक परिवर्तन संभव नहीं है। अतः वे सामाजिक एकता और भाईचारे को बनाने की दिशा में साहित्यिक अभिव्यक्ति करके प्रमुख भूमिका निभाते रहे हैं। उनकी अपनी सामाजिक कार्यकर्ता की छवि और वैचारिक

प्रतिबद्धता का सृजनात्मक विकास कहानी के चरित्र अशोक में दिखाई देता है। खुद कहानीकार दलित पैंथर के प्रमुख नेता रहे हैं और उसी दलित पैंथर की चेतना का वाहक कथानायक अशोक है। जो जातिवाद की सैद्धान्तिकी को मिटाने की कोशिश करता है। उसकी जागृत संवेदनाएं कहानी के अंत तक जीवट की तरह सत्य, ज्ञान और सामाजिक न्याय की पक्षधर रहती हैं। वह महारों द्वारा मातंगों को अछूत मानने के दलित जातिवाद के कठोर मान्यताओं की आलोचना करता है। मंडली के बैठक वाले प्रसंग में अपनी जाति के महार लोगों की जड़वादी सोच को फटकार लगाता है। जो बौद्ध धर्म का अनुपालन न करने से मातंगों को अपने कुएँ पर पानी नहीं भरने देते। इतिहास बोध का संदर्भ देकर उसका प्रस्ताव है कि, मातंगों को हम सब अछूत मानते हैं, यह गलत है। वे तो सब अपने ही भाई हैं। पुराण में भी हमारे भाईचारे की कहानी है। और 'हमसब जब दूसरों से सामाजिक न्याय की अपेक्षा करते हैं, तब हमें भी दूसरों के प्रति ऐसा ही व्यवहार करना चाहिए।' अशोक की यह अभिव्यक्ति मानवीयता की दृष्टि से डॉ. आंबेडकर के सामाजिक आंदोलन को आगे बढ़ाने वाली है। समाज जीवन की विसंगतियों को खत्म करके सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक न्याय का पक्ष प्रबल करने की दिशा में नई चेतना का विस्तार करने वाली है। जबकि गांव में महार लोग रावसाहब नामक नेता के बहकावे में आकर परंपरागत सोच में बदलाव नहीं ला पाते। सामाजिक क्षेत्र में राजनीति को मिला देते हैं। रावसाहब ने चुनाव में वोट न देने तथा बौद्ध धर्म का अनुपालन न करने की वजह से मातंगों के साथ भेदभाव की नीति अपनायी थी। इस भेदभाव को दूर करने का साहस अशोक दिखाता है। अपने समाज को बौद्ध दर्शन और डॉ. आंबेडकर की व्यापक मानवीय दृष्टि का सही-सही परिचय देता रहता है। ऐसा नहीं है कि उसे सामाजिक न्याय एवं मानवीय महत्ता की लड़ाई में सामाजिक जीवन की पारिस्थितियाँ सहायक है। विपरीत परिस्थितियों में उसे अपने ही समाज द्वारा प्रताड़ना और बहिकार जैसे संकटों का सामना करना पड़ता है। उसे जीवन के पथ पर आत्मसंघर्ष, अंतर्विरोध एवं मानसिक आघातों से गुजरते हुए वेदना और त्रासदी को सहना पड़ता है। फिर भी उसकी संघर्ष चेतना कहानी के आरम्भ से अंत तक सामाजिक एकता और परिवर्तन की चाहत रखती है। वह इतिहास बोध, विवेकवाद, सत्यज्ञान, सम्यक सोच की दृष्टि को संजोये हुए बार-बार भाईचारे का पक्ष प्रबल करता है। यह कथाकार की सामाजिक प्रतिबद्धता का परिचय भी है। साथ ही डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर के पश्चात् दिशाहीन होते गए दलित आंदोलन की आलोचना भी कहानी में यथार्थवादी दृष्टि से की गयी है। अवसरवादी दलित नेताओं की वजह से निर्मित होने वाले भेदभाव और बौद्ध धर्म की वैचारिकी का अवसान के कारणों के छोटे-छोटे बिंदुओं को भी उजागर किया गया है। अतः कथाकार अर्जुन डांगळे ने दलित जीवन के सरोकारों को सामाजिक प्रतिबद्धता से बुद्ध ही मरा पड़ा है कहानी के द्वारा अभिव्यक्त किया है। दलित समाज की जातियों के बीच स्थित अंतर्विरोधों, जातीय मानसिकता और कठोर सामाजिक यथार्थ को चित्रित किया है। समय के परिप्रेक्ष्य में घटित पुरानी पीढ़ी और नयी शिक्षित युवा पीढ़ी के जीवन संघर्षों के पहलुओं को उजागर किया है। उन्होंने कहानी में संवेदनात्मक धरातल पर जिस यथार्थवादी दृष्टि से विचारों की प्रस्तुति की है, वह विचार सामाजिक न्याय और मानवीय एकता को स्थापित करने की दिशा में मार्गदर्शन करते हैं। दलित लेखन के व्यापक मानवीय सरोकारों एवं सम्यक जीवनवादी वैचारिकी का दृष्टि-बोध देते हैं।

इकाई 7 कवच

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 उर्मिला पवार : जीवन परिचय और रचना कर्म

7.3 'कवच' की मूल वस्तु और संवेदना

7.4 दलित स्त्री के तिहरे शोषण की सच्चाई

7.5 स्त्री चेतना का स्वर

7.6 शिल्प विधान और भाषा

7.7 सारांश

7.0 उद्देश्य

मराठी दलित साहित्य की वरिष्ठ रचनाकार उर्मिला पवार की कहानी 'कवच' का अध्ययन आप प्रस्तुत इकाई में करेंगे। मराठी दलित साहित्य को समृद्ध करने में उर्मिला पवार का विशेष योगदान रहा है। कोंकण में जन्मी उर्मिला पवार के कई कहानी संग्रह, यात्रावर्णन, तथा 'आयदान' आत्मकथन के माध्यम से दलित स्त्री लेखन में स्त्री के अनथक संघर्ष, जीवन के प्रति आकांक्षा, गरीबी से बेजार होता जीवन और आत्मसम्मान के लिए लड़ाई जैसे अनेकानेक जीवन संदर्भों को अभिव्यक्ति दी है। 'कवच' कहानी के अध्ययन के बाद आप परिचित हो सकेंगे;

- मराठी दलित लेखन में उर्मिला पवार के साहित्यिक अवदान से;
- कहानी की मूल वस्तु और संवेदना से;
- माँ का बाजार में कोई अपमान न करें इस चिंता में डूबे एक किशोर के मानसिक द्वंद्व से
- पुरूषवादी सामंती पुरूषों को मुंहतोड़ जवाब देकर धराशायी करने वाली अस्मितावादी श्रमिक स्त्री से;
- आम बेचनेवाली औरतों को द्विअर्थी शब्दों से आहत करके मर्दवाद की कुंठाओं की संस्कृति से;
- दलित स्त्री चेतना के सशक्त स्वर से;
- कहानी के शिल्प और भाषा से; और
- बच्चों के उज्ज्वल भविष्य की आकांक्षाओं के प्रति संघर्षशील सचेत माँ से।

7.1 प्रस्तावना

मराठी दलित साहित्य सृजन की पृष्ठभूमि दलित मुक्ति आंदोलन से निर्मित चेतनाबोध, परिवर्तन की आकांक्षा और एक सुनहरे भविष्य का सपना रहा है। डॉ. आंबेडकर ने दलितों को उनकी स्थिति के प्रति अवगत कराया, सदियों की गुलामी की धर्म ईश्वर शास्त्रों की

साजीश से परिचित कराया। धर्म के ओढ़े हुए ढोंग, आडंबर युक्त स्वरूप की वास्तविकता को जानकर सदियों से गुलामी को अपने पूर्वजन्म का संचित मानने वाला दलित समुदाय गहरी नींद से जाग पड़ा। शिक्षा–ज्ञान से वंचित, आर्थिक रूप से पूर्णतः निर्भर, सोपानीगत व्यवस्था में सबसे निम्न बताकर जिन्हें हजारों वर्षों तक मात्र गुलामी का पर्याय बनाए रखा था, वे अब अपनी पहचान, अधिकार सम्मान के प्रति सचेत हो गए थे। डॉ. आंबेडकर के नेतृत्व में हजारों की संख्या में दलित स्त्रियों का मुक्ति आंदोलन के विभिन्न कार्यक्रमों में हिस्सेदारी से उनमें लेकर निम्नताबोध से ऊपर उठकर आत्मबोध की चेतना का विकास द्रूतगति से होने लगा था। डॉ. आंबेडकर की समता, स्वतंत्रता और न्याय की प्रखर वैचारिकी दलित लेखन का प्रेरणा स्रोत बना। आत्मभान जगे शोषित–वंचित दलित लेखक यथास्थितिवादी जातिव्यवस्था के विरोध में प्रखर रचनात्मक अभिव्यक्ति द्वारा प्रतिरोध की नई संस्कृति की इबादत लिखने लगा। प्रस्तुत इकाई में उर्मिला पवार की 'कवच' कहानी उनके 'चौथी भिंत' (चौथी दीवार) संग्रह से चयनित कहानी हैं। दलित स्त्री का लेखन के क्षेत्र में प्रवेश ही उसके संघर्षशील व्यक्तित्व और चेतनाशील अस्तित्व के कारण होता है। घर–बाहर की अनेकानेक दिक्कतों को झेलते हुए साहित्य में अपनी छवि कायम करना कांटो भरे रास्ते पर चलने से कम दर्दनाक नहीं है। सजग दलित लेखिका पर दोहरी जिम्मेदारी आ जाती है और वह है जातिव्यवस्था के उत्पीड़न के साथ पितृसत्ता के दबाव में घोर अपमानीत जीवन जी रही दलित स्त्री त्रासदी की प्रखर अभिव्यक्ति। उसकी लेखकीय चेतना स्त्री जीवन के बहुआयामी शोषण की तमाम जटिलताओं को उजागर करने का प्रयास करती है। दलित स्त्री चाहे वह मजदूर है अथवा डॉक्टर, इंजीनियर, अध्यापिका अथवा लेखिका उसके अंतर्मन में जाति और लिंगभेद से उठे आक्रोश को दलित स्त्री रचनाकार शब्दरूप देकर परिवर्तन की आकांक्षा को बयान करती है। मजदूर स्त्री चूंकि घर की आर्थिक जिम्मेदारी में बराबर की भागीदारी उठाती है, उसे बाजार–हाट में जाकर चोली नामक गांव का आम बेचना है। ऐसे वक्त में सामाजिक हीनतादृष्टि से देखनेवाला सामंतवादी जातिवादी पुरूषवर्ग से उसका सीधा संघर्ष होने की संभावनाएं होती है। जाति अहं से भरा मर्दवाद अपने पुरूष होने के अर्थात् सत्ताधारी होने के दंभ और जातिदंभ को व्यक्त करने के लिए हमेशा दलित स्त्री को अवमानीत करने का हक समझता है। धर्मनिहाय संस्कृति की यह भीषण सच्चाई प्रस्तुत कहानी में लेखिका ने उजागर की है। दलित स्त्री अपने शब्दरूपी हथियार से अपने सम्मान को बचाकर परिवार के भरण–पोषण के लिए गांव के बाग के आम बेचने की जद्दोजिहद करती है। इस इकाई के अध्ययन से आप समझ सकेंगे एक दलित स्त्री का स्त्री होने, दलित होने और गरीब मजदूर होने के कारण यथास्थितिवाद से उसका तिहरा संघर्ष है। अपितु यह कहना अधिक समुचित होगा कि दलित स्त्री जातिव्यवस्था के कारण बहुआयामी उत्पीड़न को झेलती है।

7.2 उर्मिला पवार : जीवन परिचय और रचना कर्म

उर्मिला पवार, दलित महिला लेखन की एक प्रतिबद्व रचनाकार है। उनका जन्म कोंकण क्षेत्र में 7 मई 1945 को एक महार परिवार में हुआ था। कोंकण का क्षेत्र, जिसमें एक ओर उँचे पठार तो दूसरी ओर गहरी घाटियां, एक ओर कोमल नदियों तो दूसरी ओर विशाल सागर, अपने धरातल में अनेक विरोधों को समाहित किए हुए था। उर्मिला पवार का बचपन इस क्षेत्र में प्रकृति की सुंदरता और जाति की सामाजिक कुरूपता के बीच पलता रहा। उनका लेखन कर्म इस सुंदरता और कुरूपता को गहरी संवेदना के साथ दिखाता है।

उनका परिवार एक सजग दलित परिवार था, जिसने क्षेत्र में दलितों के बीच सम्मान की अलख जगाई। वे अपनी आत्मकथा में अपने पूर्वज हरि को श्रद्धा के साथ याद करती है, जिन्होंने दलितों के जीवन में शिक्षा की चेतना के प्रसार का प्रयास किया। उन प्रथाओं के खिलाफ मोर्चा खोला, जिसके कारण दलित जीवन अवमानना का शिकार बनता था। इनमे वह विवाह प्रथा भी शामिल थी, जिसके अनुसार ब्राह्मण महार जाति के ब्याह में छूत बचाते हुए पेड़ पर बैठ कर शादी करवाता था। पूर्वज हरि के पदचिन्हों पर उनके पिता ने भी दलितों में शिक्षा के द्वारा भेदभाव के विरोध की परंपरा को आगे बढ़ाया । वे अपने पेशे से शिक्षक थे। अपने बच्चों के भविष्य के लिए फणसावळे गाँव को छोडकर पवार परिवार रत्नागिरी शहर में आ गया। 58 वर्ष की अवस्था में पिता का असमय देहांत हो गया। लेकिन माता ने अपने बच्चों के पालन का बीड़ा उठा लिया। एक स्त्री के लिए पति के स्थान पर अपने बच्चों की परवरिश करना बहुत कठिन होता है, विशेषकर दलित स्त्री के लिए। उन्होंने बाँस की टोकरियॉ बीन कर अपना जीवन चलाया, अपनी संतानों को शिक्षित बनाया। आत्मकथा 'आयदान' में उर्मिला पवार अपनी माँ के योगदान और अपने रचना कर्म के बीच में पनपे सूत्र को बताते हुए कहतीं हैं ''मेरी माँ आयदान की बुनाई करती थी, मराठी में आयदान का अर्थ बाँस से बनी वस्तुओं से होता है। उनका बुनाई का उद्यम और मेरा लेखन अलग होते हुए भी आपस में जुडते हैं। दोनों के बीच बुनाई की समानता है। यह दर्द, यातना और पीड़ा की बुनाई है, जो हमें आपस में जोडती है। ''। 1. शिक्षा के उपरांत उन्होंने विवाह किया और बाद में कोंकण क्षेत्र से मुंबई आ गईं। गृहस्थी के दायित्व के बीच में उच्च शिक्षा का उनका अरमान दब गया था, लेकिन बाद में उन्होंने इस संकल्प को पूरा किया और मराठी साहित्य में मुंबई विश्वविद्यालय से परास्नातक की उपाधि प्राप्त की। वे गृहस्थी के साथ सरकारी नौकरी भी संभाल रहीं थी। 1975 से उन्होंने साहित्य में रचनात्मक लेखन द्वारा प्रवेश किया। आरंभ में कहानियाँ उनकी पहचान बन गई – विशेषकर चौथी भिंत और कवच जैसी कहानियाँ। उनके 'सहांव बोट', 'चौथी भिंत' और 'हातचा एक' कहानी संग्रहों ने दलित जीवन के नितांत भिन्न जीवन अनुभवों को प्रस्तुत किया। 1980 तक उर्मिला पवार की पहचान एक सशक्त रचानाकार की बन चुकी थी। उन्होनें 'मैत्री' की सम्पादक मीनाक्षी मून के साथ मिलकर महाराष्ट्र में अंबेडकर आंदोलन में दलित स्त्रियों के योगदान की पहचान के लिए गहन अध्ययन और यात्राएँ कीं। इनके आधार पर ही 'आम्हीही इतिहास घडवला'' की रचना की ,जिसके दो से अधिक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। अपने प्रेरणा स्रोत बाबा साहेब पर उन्होने 'अम्बेडकर कालपट' नामक पुस्तक लिखी। इसके अलावा उन्होने अपने जीवन की कथा को 'आयदान' नामक आत्मकथा में व्यक्त किया है। आयदान का आशय बॉस की बुनाई से बनी वस्तुओं से है, जिस पेशे से उनकी माता ने अपना परिवार पाल पोस कर बडा किया था।

7.3 'कवच' की मूल वस्तु और संवेदना

कवच कहानी मूलत; बच्चे 'गौन्या ' के मनोजगत पर आधारित है। लेकिन इस मनोविज्ञान का सम्बन्ध उन जीवन स्थितियों से है जिसमें एक दलित बालक पलता बढ़ता है। कहानी के आरंभ में गौन्या की माँ इंदिरा बाजार के लिए तैयार हो रही है। वह रोज सुबह अपने गाँव से शहर आम लेकर जाती है। इन्हें बेचकर ही वह अपने परिवार का पालन पोषण करती है। लेकिन आज गौन्या का मन अपनी माँ के साथ बाजार जाने को नहीं कर रहा है। वह नहीं चाहता कि उसकी माँ बाजार में आम बेचने जाये। वह तैयारी में जुटी अपनी माँ की बातों की उपेक्षा करता है। इस पर माँ बहुत क्रोध में आ जाती है । वह गौन्या और देर तक सोते हुए उसके पिता को बहुत भला बुरा कहती है। अपनी जिंदगी की स्थिति पर अफसोस करती है। जिसमें घर और बाहर की सारी जिम्मेवारियाँ उठाने पर

भी उसे किसी भी तरह का सहयोग न तो पति से मिल पा रहा है और आज बेटा भी उल्टी राह पर चलने लगा है। अपने माँ की बातों पर ध्यान न देने के कारण गौन्या पिटता है। वह इस मार से नहीं वह अपने ग्लानि बोध और शर्म से परेशान है। इस बीच पड़ोस की साबू माय आकर गौन्या और उसकी माँ को समझाती है। वह गौन्या को स्कूल में पढ़ने वाला भला लड़का मानती है, जो अपनी माँ और बड़ों का कहना मानता है। वह गौन्या को समझाती है कि बाजार जाना जरूरी है और अच्छा लड़का होने के कारण उसे अपनी माँ की मदद करनी चाहिए। साबू माय के प्यार से गौन्या का मन भर गया। एक ओर उसको मार पड़ गई जबकि उसकी कोई गलती नहीं –'' देखते देखा मुझे एक बार, उस भवन की ओर देखा छिन्नतार, देख कर कोई नहीं, देखा उस दृष्टि से जो मार खा रोई नहीं '' कुछ ऐसा ही भाव गौन्या के मन में आ रहा है। उसकों अपनी माँ पर गुस्सा आ रहा है और सच को कह न सकने की पीड़ा के कारण रोना आ रहा है।

यह सच क्या है? इसे बताने के लिए कहानी फ्लेश बैक में उसके स्कूल जाती है। स्कूल में महिला अध्यापक अपने पुरुष सहपाठी का प्रतिरोध कर रही है। गौन्या के गाँव का नाम 'सीता की चोली ' है, जिसे आम जनता संक्षेप की सुविधा के अनुसार चोली नाम से बुलाती है। धीरे-धीरे इस नाम को पितृसत्ता की संस्कृति ने स्त्री सम्मान पर हमले का साधन बना लिया। पढी लिखी अध्यापिका ने इस हमले का विरोध किया। उसने अपने पुरुष सहयोगी को चुनौती दी –''शर्म नहीं आती है आपको, ऊपर से बेशर्मी दिखाते हैं। वह चिल्लाई और शिक्षक के होठों की खुशी काफूर हो गई । उसका चेहरा उतर गया। उसने कुछ कहने के लिए होंठ फड़फड़ाए तो शिक्षिका ने कहा कि आप बार बार इस गाँव का नाम ही क्यों बोलते हैं।'' बालक गौन्या के ऊपर इस घटना का गहरा असर पड़ा। उन पुरुष शिक्षकों ने अपनी धूर्तता को भोलेपन के आवरण से ढकने का प्रयास किया। इसके लिए उन्होंने गौन्या को भी इस प्रकरण में घसीट लिया। गौन्या चोली गाँव का निवासी था और उसकी माँ भी आम बेचने जाया करती थी। इस पर शिक्षकों ने उसके मुँह से कबूल करवाया कि चोली के आम जैसा द्विअर्थी संवाद रोजमर्रा के रोटी पानी की तरह ही एक सामान्य बात है। अपमानित गौन्या चुप रह गया। लेकिन उसके मन में गाँठ बन गई। गाँव का नाम और आम का काम जो उसके लिए सहज थे अचनाक ही उसकी नजर में अश्लील हो उठे। बाजार में रोजगार के समय ग्राहक, आम और चोली के नाम को जोड़कर तरह तरह के सवाल करते थे। उसे उन लोगों, उनके सवालों और उनके अभिप्राय से नफरत हो आई। उसकी नफरत और गुस्सा एक पवित्र भावना की तरह है। अपमान और शोषण के दरम्यान इन भावनाओं का उभरना स्वाभाविक ही है। बस दिक्कत केवल इसके कारणता के बोध में है। अपने भोलेपन में वह इस कुत्सित समाज की कुत्सा के बजाय अपनी माँ को ही कारण समझ लेता है–वह अनपढ़ है और उसकी चुप्पी ही लोगों को बढ़ावा देती है। वह पढ़ी लिखी अध्यापिका की तुलना में अपनी माँ और गँवार औरतों को दोअर्थी शाब्दिक हमलों के सामने कमजोर पाता है कि क्यों वे इस बदतमीजी को सहन करती हैं। वह सोचता है – ''बहनजी अच्छी पढ़ी लिखी महिला है, अच्छे परिवार से आती है, इसलिए उन्होंने इन शब्दों का बुरा अर्थ समझा होगा और लड़ पड़ीं। बहन जी महान है। कहाँ वे और कहाँ मेरी माँ और गाँव वाली औरतें।''

एक बच्चे के सामने अपनी माँ का अपमान और बदले में कुछ न कर पाने की विवशता में जूझते गौन्या का किसी काम में मन नहीं लग रहा है –'कहते न बने सहते न बने, मन ही मन पीर पिरैबो करै '। उसकी माँ ने उसे नदी से पानी लाने भेजा तो वह अपने विचारों में खो गया। किसी तरह सब तैयारी पूरी हुई, गौन्या अपनी माँ इंदिरा और गाँव की अन्य औरतों के साथ शहर की ओर बाजार के लिए निकल पड़ा। वह समाज को तो सुधार नहीं सकता था लेकिन अपनी माँ को सावधान कर सकता था कि वह ग्राहकों की

बदसलूकी से सावधान रहे। बीच में माँ को सजग रहने और ग्राहकों से सख्ती से पेश आने की बात करना चाहता रहा। रास्ता वही पुराना था जिस पर उसका रोज का ही आना जाना था लेकिन आज उसके मनोभाव बदले हुए थे। रास्ते में खुला आकाश, घास के दूर तक फैले मैदान में सोनावली के खिले फूलों की छटा देखकर उसके संताप भरे मन को थोड़ी देर के लिए सुकून मिला। इस प्रकृति के विराट और भव्य सौंदर्य के आगे उसे अपना संताप बहुत छोटा लगने लगा। इसके सौंदर्य में डूबे गौन्या का पैर जब काँटे पर पड़ा तो वह यथार्थ में लौट आया। वह औरतों के झुण्ड से काफी पीछे छूट गया। मैदान और बागों की नीरवता ने उसके मन में अनजाना भय भर दिया। वह दौड़ कर अपनी माँ के पास पहुँचा। शहर नजदीक आ गया और इसके साथ ही यातना की आशंका वापस आने लगी।

उसकी आशंका सच ही साबित हुई। शहर के बाजार में पहुँच दलित स्त्री मानो मनोरंजन का एक सामान बन गई। सभी उसके सामान के निरीक्षण के बहाने उनका निरीक्षण करने लगते थे। गौन्या के ख्याल से उसकी माँ चूजों के साथ बाहर निकली असहाय मुर्गी की तरह परेशान थी। उसकी इस दशा पर गौन्या को खीझ हो आई। कहीं न कहीं उसकी माँ की बेबसी खुद गौन्या की बेबसी बन गई थी। उसने दूसरी ओर साबू माय की ओर देखा, जो शांति और पूरे नियंत्रण के साथ अपनी वस्तुएँ ग्राहकों को दिखाती और उसके वाजिब पैसे तय करती। इस तुलना में उसने अपनी माँ को फिर एक बार कमजोर पाया। केवल पुरुष ही नहीं मछुआरिन तक भी उसके सौदे के तरीके का लिहाज नहीं करती है। वे उसके सामान के गुणवत्ता की शिकायत करती और उसका उपहास करने लगी तब गौन्या के सब्र का बाँध टूट गया। उसने मछुआरिनों को अपने आम बेचने से इंकार करने को कहा। लेकिन उन्होंने बच्चे की बात को खिल्ली में उड़ा दिया। सभी तरफ से विक्षोभ से भरे गौन्या का मन इस कार्य व्यापार से मानों भर गया। तभी शराब के नशे में दो आदमी आए। उन्होंने इंदिरा से अश्लील बातचीत करने की कोशिश की। उनकी आक्रामकता और लहजे को देख गौन्या अपना गुस्सा और खीझ भूल गया। अचानक उसके रोंगटे खड़े हो गए। बाग में आते समय अनजान कीजो आंशका थी, वो अब उसके सामने उपस्थित हो गई। उसे अपने से अधिक माँ के सम्मान की सुरक्षा का भय लगा। लेकिन इंदिरा ने उन शराबियों के बेहूदे सवाल और हरकतों से घबराई नहीं। उसने बहुत सहजता के साथ सहन कर बड़े शांत भाव से मुँहतोड़ जबाव दिया। अपनी बात से उनकी कमजोर नस पर हमला कर उन्हें धूल में गिरा दिया। उसके लाजवाब कर देने वाले उत्तर से उन शराबियों पर घड़ों पानी फिर गया। अपने को सही साबित करने के लिए वे इंदिरा को धमकाने लगे लेकिन ये खोखली धमकियाँ उनकी मिटटी में मिल गई प्रतिष्ठा की स्थापना करने की ताकत नहीं रखती थी। ये हारे हुए लोगों के वचन थे, जिससे वे शायद खुद को दिलासा दे रहे थे। – ''बड़बड़ाते हुए वे दोनों उठे और पूँछ दबाए कुत्ते की काँय काँय करते चले गए''। माँ इंदिरा शांत भाव से अपने आमों की टोकरी के साथ बैठी रहीं। जो काम शिक्षिका चीख चिल्लाकर नहीं कर पाई वह इंदिरा ने बहुत सहजता के साथ कर दिया। वे शराबी दूर भागे जा रहे थे और इधर गौन्या का डर भी दूर होता जा रहा था। उसने माँ की ओर देखा, इस क्रूर संसार और उसके बीच में वह अपने वजूद के साथ मौजूद थी और उसकी मौजूदगी गौन्या को कवच का अहसास का दिलाती थी।

7.4 दलित स्त्री के तिहरे शोषण की सच्चाई

कवच कहानी का कथानक बच्चे गौन्या के मनोभाव के इर्द गिर्द घूमता है। लेकिन कथानक की गति का कारण गौन्या नहीं उसकी माता इंदिरा है। उसके कर्मो की गति से कथानक को ही नहीं बल्कि परिवार के जीवन को गति मिलती है। रूपक में कहें तो

वह उस धुरी के समान है जिसकी घूमने से ही परिवार की आजीविका का पहिया घूमता है। किसी पाठक को आश्चर्य हो सकता है कि इसमें लेखिका ने एक बार भी गौन्या और उसकी माता इंदिरा की जाति के बारे में नहीं बताया है। इसके बावजूद इंदिरा के कामकाज की जिम्मेवारी और जिदंगी के हालात से उसके दलित होने का संकेत मिलता है। दलित स्त्री समाज की संभवतः सर्वाधिक कामगार सदस्य होती है। लेकिन श्रम का ऐसा अनथक रूप होते हुए भी वह किसी मजदूर से अलग है। उसका काम केवल आर्थिक नहीं बल्कि पारिवारिक सरोकार से जुड़ा है। यह परिवार के महत्वपूर्ण सदस्य के रूप में बच्चों के पालन पोषण से जुड़ता है, उनकी तकदीर बनाने से जुड़ता है। इंदिरा अपने बच्चे गौन्या के लिए ऐसे ही कुछ अरमान पालती है। चौथी पास कर गौन्या पाँचवी में गया –'' इंदिरा खुश हुई और सोचा कि गौन्या खूब पढ़ लिखकर अच्छी नौकरी करेगा, तब उसके दुख दूर हो जाएंगे। इसी आशा में उसे अच्छे स्कूल में पढ़ने भेजा। गौन्या भी खुशी से नियमित स्कूल जाने लगा''। ऐसा अरमान किसी भी माता का हो सकता है लेकिन एक दलित स्त्री ही इसकी भरपाई प्रायः अपने शारीरिक श्रम से भी कर सकती है। इस ओर तमिलनाडु दलित महिला संघ ने जेनेवा में नस्लवाद विरोधी समिति के 70वें सत्र के समक्ष प्रस्तुत रिपोर्ट में बताया – ''एक मजदूर और बैल वर्ष भर औसतन 1202 घण्टे और 1064 घण्टे का कठोर श्रम करते हैं, जबकि अकेली दलित स्त्री इन दोनों से अधिक औसतन 3485 घण्टे का श्रम करती है।'' इंदिरा का सघर्ष एक ओर अपनी माता की पहचान को लेकर है, जिसे अपनी संतान को एक बेहतर भविष्य उपलब्ध कराना है, दूसरी ओर उस समाज से जूझना है, जो उसके स्त्री अस्तित्व को पग पग पर जातिगत पहचान के कारण अपमानित करता है। एक ओर स्त्री जीवन और दूसरी ओर जाति की जकड़न। इस संदर्भ में प्रो. विमल थोरात कहती हैं ''दलित स्त्री, चाहे वह मध्यवर्गीय, निम्नवर्गीय, मजदूर, सामाजिक कार्यकर्ता अथवा कालेज की अध्यापिका हो, उसे दलित और स्त्री होने की पीड़ा साथ-साथ झेलनी पड़ती है। .... अन्याय, गुलामी, दरिद्रता और वंचना ने स्त्री जीवन को एक सी भयावहता, दीनता, लाचारी और कुचले जाने की पीड़ा से भर दिया है। ''

इन दोनों संघर्ष के बीच में इंदिरा अपना रास्ता बनाने का प्रयास करती है। कहानी में मर्म उभरता है क्योंकि वह इस प्रयास में अकेली पड़ गई है। वैसे तो उसका अपना परिवार है लेकिन इस परिवार के एक पहिए के रूप में पति निष्क्रिय है। जब वह अपने आमों की ब्रिकी के लिए सुबह तैयार कर रही है, तब पति सो रहा है, बच्चा असहयोग की मुद्रा में है। यहीं नहीं माँ – बेटे के बीच विवाद में उसकी नींद में खलल पड़ता है तो वह दोनों के लिए अपशब्दों का प्रयोग करता है। लोक में एक कहावत कही जाती है– ''बारिश की धार और पति की मार की कहीं सुनवाई नहीं है, दोनों अपनी मर्जी से आते हैं।'' इंदिरा का पति कोई काम नहीं करता लेकिन पति के रूआब का पालन करता है। अफ्रीका के उन बब्बर शेरों की तरह, जहाँ शिकार का काम शेरनियाँ करती हैं, जबकि खाने पर पहला अधिकार शेर ही कायम करते हैं। शेर तो पशु है लेकिन पुरुष को यह अधिकार कहाँ से हासिल होता है? इसका जवाब होगा – पितृसत्ता से। पितृसत्ता एक सामाजिक विचार है जो पुरुष को महिला से श्रेष्ठ मानता हैं। इस श्रेष्ठता के कारण वह स्त्री की तुलना में अनेक विशेषाधिकार का उपभोग करता है। इस उपभोग के लिए वह एक सामाजिक ढाँचे का विकास करता है, जो स्त्री की उत्पादन और यौन क्षमता को पुरुष के हित में नियंत्रित रखता है। एक स्त्री किसी पुरुष से भिन्न होती है। यह एक जैविक तथ्य है। लेकिन भिन्न होना, भेदभाव के लिए आधार नहीं बन सकता। हिंदू धर्म की जाति प्रथा का चलन इसी पितृसत्तात्मक ढाँचे के तहत ही संभव बनता है। यह अलग बात है कि क्षेत्रों के अनुसार इसका रूप अलग हो सकता है। एक ओर केरल में इसी पितृसत्ता के कारण पिछड़े वर्गो की स्त्रियों को अपना स्त्रीत्व को ढकने की अनुमति नहीं थी, वही आसाम और बंगाल में स्त्री को अपेक्षाकृत उदार सामाजिक व्यवहार उपलब्ध था। महाराष्ट्र और

कोंकण प्रदेश में पेशवा काल में स्त्रियों के ऊपर धर्म की कई पाबंदियाँ लगाई। इससे स्त्रियों को सामंती उपभोग के नजरिए से देखा जाता था। सामंती ढाँचे के भीतर ही यौन विषयों में द्विअर्थी संवाद लोक व्यवहार का अंग बन जाते हैं। इन संवादों से न केवल स्त्री बल्कि दलित जीवन को आहत किया जाता है। कहानी में गौन्या इस संस्कृति के हमले के सामने ही कवच अथवा कहे कि सुरक्षा की माँग करता है। पूरा जातिवादी ढाँचा ही पुरुष विशेषकार ब्राह्मण पुरुष की आर्थिक, सामाजिक और यौन इच्छाओं की पूर्ति के लिए बना है। इस व्यवस्था में धार्मिक संस्कारों के द्वारा वह अन्य जातियों के लोगों को शामिल करता है। कामकाजी जातियों में पितृसत्ता का ब्राह्मणवादी रूप हूबहू काम नहीं करता है। ब्राह्मण ग्रंथकारों ने शूद्र द्वारा अपनी स्त्री के साथ व्यवहार के नियमों पर अधिक ध्यान नहीं दिया। इस बारे में न उन्होने ज्यादा कोई कानून बनाए और न ही इसकी अधिक चिंता की । इस बारे में प्रख्यात विद्वान कांचा इलैया 'व्हाई आई एम नॉट ए हिंदू' में कहते है–'' बहुजन में स्त्री और पुरुष के बीच सत्तागत सम्बन्ध पवित्र दर्जा नहीं रखते हैं। इसलिए उनके बारे बहुत घालमेल की संभावना नहीं है।.... कुछ सीमा तक यह सम्बन्ध हिंदू धर्म के स्त्री – पुरुष संबंधों की तुलना में कम जटिल और कम दमनात्मक है।'' विद्वान कांचा इलैया का यह कथन सही है लेकिन ऐसा नहीं है कि लिपिबद्व कानूनों अथवा पवित्रता के बोझ के अभाव में दलित स्त्रियों के लिए स्वयं दलित समाज के भीतर बहुत सुविधा हासिल है। उनके शोषण का रूप अलग होता है लेकिन वह कम कष्टकारी नहीं होता है। उर्मिला पवार ने अपनी आत्मकथा में दलित स्त्री 'पार्वती' के बारे में लिखा है–'' पतली लेकिन मजबूत, किसी मर्द से बडा गट्ठर उठा सकती थी। वो नदी से पानी भरती, घर की सफाई करती, गौशाला की सफाई करती, गोबर से कंडे पाथती, आँगन की लीपाई करती। फसल के मौसम में खलिहान फसल सें अनाज निकालने का काम ... बाजार में सामान बेचने जाती.... लौटने पर खरीदी हुई मछली को धोने चली जाती।'' इस अनथक श्रम से दलित स्त्री को अपने जीवन में अपना कुछ कहने को रह नहीं जाता है।

कवच कहानी में बाजार का प्रकरण रोचक है। इसमें बाजार में गाँव की स्त्रियाँ अपना सामान बेचने जाती हैं। दुखद यह है कि वे इन सामानों के साथ खुद भी एक सामान बन जाती हैं। लोग उनको भी एक सामान की तरह देखते हैं – मनोरजन के एक सामान की तरह। लक्षणा में कहें तो हर इक निगाह उन पर किसी खरीददार की तरह पड़ती है। सभी पुरुष इस मनोरंजन मे शामिल हैं। लेकिन मछुआरिनों के व्यवहार पर आश्चर्य होता है। स्त्री होने के कारण मछुआरिनों को गाँव की स्त्रियों के साथ सदाशयतापूर्ण व्यवहार करना चाहिए था। लेकिन कहानी में इसके ठीक उल्टा घटित होता दिखाई देता है। वे गाँव की स्त्रियों पर पुरुषों की आक्रामकता के साथ व्यवहार करती हैं। गौन्या भी उनसे, एक स्त्री होने के नाते इस प्रकार के हृदयहीन व्यवहार की उम्मीद नहीं करता है। मछुआरिनें स्त्री होने के साथ गाँव की स्त्रियों से कमोबेश समान जीवन स्तर पर थी। इसके आधार पर गौन्या उनसे सहानुभूति की उम्मीद करता है तो इसमें कुछ भी असहज नहीं है। लेकिन उनके अप्रत्याशित आक्रामक व्यवहार की वजह से वह गुस्से भर जाता है। पूरी कहानी में उसका आक्रोश बँधा रहा केवल इसी प्रकरण में उसका गुस्सा फूट पड़ा है। मछुआरिनों के व्यवहार की व्याख्या पितृसत्ता के दमन के बजाय जातीय ढाँचे की बनावट से अधिक की जा सकती है। जातीय रचना को दैवीय रूप देने के साथ ही ब्राह्मण लेखकों ने उसे सोपानिक रूप भी दिया है। इस सोपान व्यवस्था के कारण जातियाँ एक दूसरे के साथ कभी समान स्तर पर नहीं हैं। उनमें एक दूसरे से ऊपर अथवा नीचे होने का भाव सदैव ही विदयमान रहता है। ऊपर के तीन वर्णों को छोड़कर शूद्र और अति शूद्र की जातियों के बीच एक दूसरे से उपर नीचे की सामाजिक स्थिति के लिए होड़ मची रहती है। 'एनिहिलेशन ऑफ कास्टस' में डा. अंबेडकर ने कहा कि जातियाँ एक स्वतंत्र गणराज्य की तरह कार्य करती हैं। वे जातीय ढाँचे में अपनी स्थिति के भीतर

स्वयंभू ईकाई के रूप में कार्य कर सकती हैं। अर्थात् एक जाति अपने सदस्यों के जीवन पर शाश्वत और पूर्ण नियंत्रण रख सकती है। इस नियंत्रण को चुनौती देने वाले किसी सदस्य को इससे बाहर कर सकती है। इस प्रकार उनमें अपनी जाति को लेकर संप्रभुता की भावना रहती है। ये जातियाँ जब जातीय ढाँचे के तहत अपनी स्थिति का, हीनता का बोध करती तब उनमें असंतोष की भावना का उदय हो सकता है। लेकिन यह भावना कभी विस्फोट रूप नहीं ले सकती। वास्तव में कार्ल मार्क्स के समाज सिद्वांत भारत में जाति के सामने आते ही उलझ जाते हैं। उस सिद्धांत के अनुसार दो वर्गों के बीच परस्पर हितों में टकराव ही उनके विरोध को जन्म देते हैं। औद्योगिक युग में पूँजीपति वर्ग का जन्म हुआ लेकिन इसने अपने एण्टी थीसिस अथवा निषेध रूप में सर्वहारा को जन्म दिया। लेकिन ब्राह्मण विचारकों ने जाति नियमन के दौरान अपने खिलाफ किसी एण्टी थीसिस को जन्म नहीं लेने दिया। जाति के सोपानिक ढाँचे में प्रत्येक जाति स्वयं को इस स्थिति में पाती है कि उसे अपने से नीचे की कोई जाति मिल ही जाती है। अपने असंतोष गुस्से और क्षोभ को वे अपने से नीचे की जाति पर आक्रामक रूप से व्यक्त कर सकते हैं। सभी निम्न जातियों को हमेशा ही किसी अन्य निम्न जाति पर अपने रौब को गालिब करने का अवसर रहता है। वर्ण स्वरूप और का चलन उन्हें इस व्यवहार की बेपनाह छूट देता है। इस छूट को वेद पुराण और स्मृतियों में सैद्वांतिक रूप दिया गया। लोक वार्ताओं और मुहावरों में इसका सरलीकरण कर जनता के बीच प्रचार किया गया। इसलिए सही मायने में जाति व्यवस्था की बुनियाद के विरोध में कोई सफल आंदोलन कभी नहीं चल पाया कि इसको ध्वस्त कर सके। खराब दशाओं के बावजूद जातियों के बीच जाति सत्ता और इसके विरोध जैसा धुव्रीकरण कभी नहीं हो पाया । विशेषाधिकार का वितरण जातियों के बीच इस तरह के किया गया कि वे अधिक से अधिक सुविधाओं को हासिल कर सकें। प्राचीन काल से ही जाति के खिलाफ अभी तक के सभी आंदोलन बस इस सोपानिक व्यवस्था की सीढ़ियों में बदलाव ला सके हैं इसको पूर्णतया बदल नहीं सकें। प्रख्यात विचारक इकबाल जब कहते हैं–यूनान मिस्र रोमा मिट गए जहाँ से..... कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी '। यह जाति व्यवस्था है, जो भारतीय सभ्यता की निरंतरता को आधार देती है। इसको अक्षुण्ण बनाए रखती है। मछुआरा समाज आर्थिक स्तर पर और उत्पादकता में दलित के समान ही मेहनतकश समाज है। लेकिन जातीय ढाँचे की सोपानिक व्यवस्था में उन्हें दलित समाज से ऊपर की स्थिति का लाभ है। वे स्वयं भी ऊपर की जातियों से पीड़ित होते हैं लेकिन इस आक्रोश को वे दलितों पर व्यक्त कर सकते हैं। मछुआरिनों का यह व्यवहार गौन्या को आश्चर्यचकित कर देता है लेकिन यह हिंदू जातीय व्यवस्था की तार्किक परिणति है। जैसे पितृसत्ता की बनावट कुछ इस तरह से की गई है कि जिसमें हिंदू संयुक्त परिवार में सबसे ताकतवर स्त्री ही परिवार में स्त्रियों की सबसे सशक्त विरोधी बन जाती है। वह बेटियों और बहुओं पर पुरुष के पितृसत्तात्मक नियंत्रण को अमल में लाने वाली सशक्त एजेंट होती है। इसी प्रकार जाति व्यवस्था में प्रत्येक जाति अपने से निम्न जाति को प्रताड़ित करती है। असमानता की रक्षा करके वह इस ढाँचे को मजबूत करने वाली एजेंट के रूप में कार्य करती है। मछुआरा समाज जातीय रचना में बहुत नीचे ही सही लेकिन वह स्वयं से नीचे दलित को मानती है जिसकी प्रताड़ना के द्वारा वह अपनी जातीय जिम्मेवारी का निर्वाह करती है। कवच कहानी में मछुआरिनों का गाँव की दलित स्त्रियों के संदर्भ में सामाजिक व्यवहार इसी सामाजिक रचना की ओर इशारा करता है। महान रचना किसी समाज को समझने में किसी समाजशास्त्र अथवा अर्थशास्त्र की तुलना में उपयोगी होती है कि वह सत्य को अनुभव की आँच में तपाकर प्रस्तुत करती है, आँकड़े और तथ्यों के रूखेपन से नहीं। उर्मिला पवार ने अपने आस पास के जीवन को रचा है जिसमें यथार्थ खुद ब खुद आया है।

7.5 स्त्री चेतना का स्वर

'कवच' कहानी गौन्या के बहाने इंदिरा की कहानी कहती है। गौन्या एक बच्चा है, जो समाज को कुछ सामान्य तरीकों से जानता है। इन तरीकों में जब विद्रूपता आती है तो वह इनको समझ नहीं पाता और जिन चीजों को हम समझते नहीं उनसे डरते हैं। पूरी कहानी के पार्श्व में यह डर मौजूद है । अंत में जाकर यह डर दूर हो जाता है, जब गौन्या को अपना कवच मिल जाता है। कवच स्वयं उसकी माँ इंदिरा है। यहाँ यह सवाल स्वाभाविक रूप से उठता है कि क्या इंदिरा के रूप में सशक्त नारी पात्र लेखिका की कल्पना है अथवा सामाजिक हकीकत? इस प्रश्न को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे ही समझा जा सकता है। महाराष्ट्र का प्रदेश मध्यकाल से ही सामाजिक उथल पुथल के लिए उर्वर भूमि की तरह रहा है। पेशवा काल में इस प्रदेश में सामंती बनावट की जातीय रचना का ही चलन था, जिसके मुख्य लक्षण निम्न हैं–

- वेद पुराण और स्मृतियों के कठोर जातीय नियम
- पितृसत्तात्मक पारिवारिक ढाँचा
- कठोर जातिगत असमानता
- धार्मिक आडंबर

इस पेशवा व्यवस्था के पतन के बाद अंग्रेजों की सत्ता में निम्न जातियों को राहत की साँस मिली। इसी गुजांइश से महाराष्ट्र में सत्यशोधक आंदोलन चला। इसके प्रणेता महात्मा ज्योतिबा फूले ने शिक्षा को ही समस्त बहुजन समाज के लिए मुक्ति का मार्ग बताया। उन्होंने स्त्री शिक्षा के लिए सन 1848 में बालिका विद्यालय की स्थापना की। इसमें शिक्षा के लिए उन्होंने सबसे पहले अपनी पत्नी सावित्री बाई को शिक्षित बनाया। उनका अमर कथन है–

> विद्या बिना मति गई।
> मति बिना गति गई।
> गति बिना नीति गई।
> नीति बिना सम्पत्ति गई।
> संपत्ति बिना शूद्र ध्वस्त हुए।
> सारा अनर्थ एक अविद्या से हुआ।

ब्रिटिश काल में सामाजिक आंदोलन के लिए अनुकूल परिवेश उपस्थित हुआ। इसमें स्त्री सम्बन्धी जनजागरण के कई कार्य महाराष्ट्र की भूमि पर हुए। पंडिता रमाबाई जैसी सक्रिय महिला विचारकों का सार्वजनिक मंच पर आगमन हुआ। हिंदू पितृसत्ता एक वैचारिक आधार पर खड़ी थी – असमानता की दैवीय मान्यता। डा. आंबेडकर ने अपने प्रखर बौद्विक चिंतन से इस वैचारिक आधार को ध्वस्त कर दिया। उन्होंने अपने लेखन कर्म से जता दिया कि जाति की असमानता प्रकृति अथवा दैवीय देन नहीं है बल्कि ब्राह्मण लेखकों ने ही इसका विकास किया है। एक मनुष्य द्वारा बनाए विधान को दूसरे मनुष्य द्वारा समाप्त भी किया जा सकता है। कोई भी प्रथा अथवा व्यवस्था शाश्वत नहीं, न ही जाति प्रथा और न ही पितृसत्ता । इससे पहली बार जाति प्रथा के बुनियाद और अस्तित्व के सामने गंभीर प्रश्न खड़ा हुआ।

इन विचारकों और सामाजिक आंदोलनों का असर था कि पेशवा काल के पितृसत्तात्मक समाज के स्थान पर महाराष्ट्र मे स्त्री चेतना का प्रवेश हुआ। चेतना का प्रस्थान बिंदु अपनी

वास्तविक स्थिति का बोध होता है। शोषित वर्ग को अपनी दारूण दशा का बोध तो होता ही है लेकिन शोषक इसके कारणों पर पर्दा डाल देता है अथवा कारण का प्रक्षेपण करता है। मँहगाई बढ़ रही है, यह बोध सभी का होता है। मुख्य सवाल इसके कारण के बोध में है। मँहगाई से लाभ उठाने वाला उच्च वर्ग इसका कारण बढ़ती आबादी को बता सकता है। गरीब लोग ज्यादा बच्चे पैदा करते हैं इसलिए आबादी बढती है और फिर मँहगाई बढ़ती हैं। मँहगाई के हजार कारण हो सकते हैं इसमें व्यापारियों द्वारा जमाखोरी, वायदा कारोबार, काला धन, कर चोरी, बैंकों के बड़े कर्ज की हेरा फेरी आदि। अमीर तबका इसके कारणों का प्रक्षेप कर देता है और मँहगाई से त्रस्त गरीबों को ही इसका कारण बता देता है। जाति व्यवस्था में जाति के भेदभाव की दशा का जिम्मेवार इसी प्रकार स्वयं निम्न जाति को ही बताया जा सकता है। इसे हम साहित्य में देख सकते हैं। प्रेमचंद की एक प्रसिद्व कहानी सद्गति है। इस कहानी में मुख्य पात्र दुखी चमार एक ब्राह्मण के घर पर बेगार करता है। वह बेगार में लकड़ियाँ चीरता है। भूखे प्यासे दुखी को अपनी दशा का अहसास है। लेकिन उसके कारणता का बोध नहीं है। वह इस दशा को दैवीय परिणाम का, अपने पूर्व जन्म के कर्मो का दोष मान लेता है। इस भावना के साथ उसके मन में कई भावनाओं का उदय होता है। ब्राह्मण यजमान उसका अपमान करता है। इस अपमान से वह क्षोभ से भर उठा और आवेग मे आ जाता है। वह भूख प्यास की परवाह किए बिना लकड़ियों पर लकड़ियाँ चीरता जाता है और अंत में दम तोड़ देता है। प्रेमचंद की महान कहानी कला के कारण कहानी में गहन वेदना है। यह वेदना पाठक पर गहरा असर छोड़ती है। लेकिन क्या इसको दलित चेतना की कहानी कहा जा सकता है ? उर्मिला पवार की कहानी कवच से सद्गति की तुलना शायद इस प्रश्न के उत्तर की दिशा बताने में सहयोग कर सकती है। तुलना इसलिए जरूरी है कि दलित का शोषण और अपमान दोनों ही कहानियों में उपस्थित हैं, अंतर दोनों की प्रतिक्रिया में हैं। कवच कहानी में इंदिरा बाजार में जब अपना सामान बेचने जाती है तब उसके अपमान का प्रयास किया जाता है, वहीं सद्गति में ब्राह्मण यजमान दुखी चमार का अपमान करता है। बस दोनों में समानता यहीं आकर समाप्त हो जाती है। दुखी के मन में आक्रोश उभरता है लेकिन उसकी दिशा उसके भीतर ही समा जाती है वही इंदिरा के आक्रोश की दिशा बाहर है वह अपने मुँहतोड़ जवाब से सामंती मर्दों के अभिमान को चूर चूर कर देती हैं। दोनों की प्रतिक्रिया का यह फर्क क्यों है? डा. आंबेडकर और महात्मा फूले की वैचारिक क्रांति ने महाराष्ट्र में दलित समाज को उसकी यथार्थ स्थिति का बोध कराया। उसके सामाजिक ऐतिहासिक कारणों से परिचित कराया। यह जताया कि जाति का भेदभाव भगवान ने नहीं कुछ स्वार्थी इंसानों ने बनाया है। इस प्रभाव के बारे में प्रो. चमनलाल कहते हैं–''अछूतों के द्वारा स्वयं को नीचा समझे जाने की वृत्ति तो ब्राह्मण वर्ग ने मनुस्मृति आदि ग्रंथों द्वारा उनके दिमाग में कूट कूट कर भरी है। उस विषैली और खुद की दुश्मन वृत्ति से वे अब मुक्त हो रहे हैं। इससे मुक्त होने में भूमिका डा. आंबेडकर और उनके चिंतन की है।'' एक इंसानी समाज जिस व्यवस्था को बनाता है तो दूसरा उसे तोड़ भी सकता है। यह विचार रूसों के सामाजिक समझौते से मिलता जुलता है। दलित अगर जातिगत भेदभाव का हमेशा ही शिकार बनता है और उसे किसी प्रकार का अधिकार नही मिलता है तो वह समाज के आपसी समझौते को तोड़ भी सकता है। कवच की इंदिरा को भी सद्गति के दुखी की तरह अपने जीवन की कठोरता का बोध है। लेकिन वह इस व्यवस्था को ऐसा दैवीय विधान नहीं समझती है, जिसे बदला नहीं जा सकता। वह अपने जीवन को उन्नत बनाने और बदलने की दिशा में निरंतर प्रयास करती है। कवच कहानी के काल का पूरा दायरा उसके संघर्ष का गवाह है। वह अपने शोषण का, अपमान का प्रतिकार करती है, जो सद्गति का दुखी कभी नहीं कर पाया। दोनों के चरित्र के अंतर को कुछ लोग समय के फर्क का परिणाम कह सकते हैं लेकिन यह दोनों की चेतना में फर्क का परिणाम हैं। इस चेतना की उपस्थिति के कारण सद्गति कहानी की तुलना में कवच कहानी दलित

चेतना की ठोस कृति के रूप में सामने आती है। इस कहानी के इंदिरा और साबू माय जैसे सशक्त पात्र लेखिका उर्मिला पवार के कल्पना की नहीं दलित चेतना के आंदोलन की उपज है। इनके वजूद को उन्होंने अपने जीवन में देखा और सर्जना के द्वारा कहानी में प्रस्तुत किया।

इस चेतना की विशेषता शिक्षा को परिवर्तन का मुख्य साधन मानने में है। कवच कहानी में गौन्या को इस बात का अफसोस है कि उसकी माँ अध्यापिका की तरह पढ़ी लिखी नहीं है। यह इस बात का संकेत है कि माँ इंदिरा अल्पशिक्षित अथवा निरक्षर है। लेकिन इसके बावजूद केवल इंदिरा ही नहीं बल्कि पूरे दलित गाँव में शिक्षा को लेकर सम्मान और प्रशंसा का भाव है। उन्हें शिक्षा भले ही नहीं मिल पाई लेकिन वे इस बात का ख्याल करती हैं कि उनकी अगली पीढ़ी जरूर शिक्षित हो कर निकले। गौन्या जब अपनी माँ के हाथों पिटता है तो उसके पड़ोस की दलित स्त्री साबू माय उसे बचाती है। जब वह बचाव का तर्क देती है तो इस बात पर जोर देती है कि यह स्कूल में पढ़ने वाला बच्चा है। इसके साथ असंवेदनशील व्यवहार नहीं होना चाहिए। यह तर्क उसके मन में शिक्षा के लिए चाहत और सम्मान की भावना को सामने लाता है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि दलित और पिछड़े वर्गो के प्राय; सभी विचारकों ने समाज में परिवर्तन पर जोर दिया है। इस परिवर्तन के लिए उन्होंने कभी किसी हथियार बंद क्रांति का आह्वान नहीं किया है। उनका लोकत्रांतिक मूल्यों में गहरा विश्वास रहा है। वे जाति व्यवस्था में बदलाव चाहते थे लेकिन शिक्षा के माध्यम से। शिक्षा की समता समाज में समानता का प्रसार करती थी। डा. आंबेडकर ने शिक्षा को शेरनी के दूध की तरह कहा। इसे जो पी लेता है वह बोलता नहीं दहाड़ता है। विचार की बात है कि जाति के संरक्षकों ने इसे समझ कर नई रणनीति बनाई। शिक्षा समाज में समानता को जन्म देती है तो उन्होंने शिक्षा में ही असमानता को प्रवेश दिला दिया। आज भारत में प्राइमरी 'पटरा ' स्कूल से पोस्ट मार्डन 'ग्लोबल स्कूल' तक कार्य कर रहे हैं। इनके बीच लगभग हड़प्पा काल और उत्तर आधुनिक काल जैसा फर्क है। क्या जाति की असमानता को शिक्षा की असमानता के द्वारा ही बरकरार रखने की रणनीति है?

7.6 शिल्प विधान और भाषा

कवच कहानी में घटनाओं का नाटकीय उतार चढ़ाव है लेकिन एक सूत्र इसको आपस में बाँधे रहता है। कहानी इंदिरा के कदमों की तरह तेजी से आगे बढ़ती रहती है। दृश्य पर दृश्य बदलते रहते हैं लेकिन सूत्र के कारण शिल्प के गठन में कहीं झोल नहीं आ पाया है।

एक सुबह, जब अंधेरा खत्म नहीं हुआ, इस कहानी का आरंभ हुआ, जब इंदिरा अपनी रोजी रोटी के लिए, रोजगार के लिए तैयारी कर रहीं है। लेकिन इस तैयारी को आज के दिन ग्रहण सा लग गया है। सदा साथ देने वाला बेटा 'गौन्या' भी साथ नहीं दे रहा है। दूसरी ओर घर के मुखिया के रूप में पति अपनी जिम्मेदारियों से बेपरवाह है। उसको रोजी रोटी के बजाय अपनी खटिया और अपनी नींद से ही निजात नहीं मिल पा रही है। जितना अंधेरा बाहर है, उससे अधिक आशंका, भय और ग्लानि बोध का अंधेरा बच्चे गौन्या के मन के भीतर है। कार्य व्यापार चलता रहता है। आरंभ में तनाव का परिवेश है सो इस परिवेश के अनुसार भाषा में तनाव है। इसमें तेवर का तीखापन छोटे छोटे संवादों मे व्यक्त होता है। दृश्य बदलता है बाजार की तैयारी कर गौन्या और उसकी माँ रास्ते पर आते है। इस रास्ते में कोंकण क्षेत्र की प्रकृति का नयनाभिराम दृश्य है। इस दृश्य में गौन्या का तनाव मंद पड़ जाता है। इसके साथ भाषा में रवानगी आ जाती है। दूर-दूर तक फैले घास के मैदान उनमें बीच बीच में सुदंर फूलों की छटा में गौन्या के मन के साथ भाषा

भी रम जाती है। कहानी के अंत में फिर अंधेरा उपस्थित होता है। अपमान की आशंका का अंधेरा गौन्या के मन पर घिर आता है। लेकिन जब उसकी माँ इंदिरा मर्दों की बात का मुँहतोड़ जवाब देती है। तो गौन्या का मन खिल उठा, उसे अपने जीवन के कवच, अपनी माँ की क्षमता पर भरोसा फिर से कायम हो गया। दूर भागते शराबियों के साथ उसके मन का डर भी दूर भाग गया। इसी के साथ कहानी का अंत हो जाता है। कहानी ने अपने नाम को सार्थक कर दिया। इससे ज्यादा का कथन अनावश्यक विस्तार का दोष पैदा करता है और इससे कम का कथन निष्कर्ष को अधूरा बना देता। कहानी छोटे मुँह बड़ी बात कहती हैं – कवच के शिल्प ने इस कार्य को बखूबी अंजाम दिया है।

कोकण का क्षेत्र उर्मिला पवार के लिए रचनात्मक ऊर्जा का कार्य करता है। इस क्षेत्र के जीवन की सुंदरता और समाज की कुरूपता को ही उन्होंने सामान्य बोलचाल की भाषा में व्यक्त किया है। बोलचाल की भंगिमा के बावजूद भाषा में सर्जनात्मक रूप के दर्शन होते रहते हैं। काल, स्थान और पात्र के अनुसार भाषा का तेवर बदलता रहता है। इसे सुबह बाजार की तैयारी के प्रसंग मे देख सकते हैं। इस तैयारी से बाप की नींद में खलल पहुंचता है। इसके लिए वह शिकायत कर सकता था, शांत रहने की सलाह दे सकता था लेकिन वह सीधे सीधे गालियाँ देने लगता है। यह गालियाँ उसके पितृसत्तामक और मर्द की सोच को सामने लाती है। इन गालियों ने एक ओर स्त्रियों के लिए हीनता के भाव तो दूसरी ओर कुछ न करने पर भी मर्द के निर्णय के अधिकार को उजागर कर दिया। पितृसत्ता की बनावट की हकीकत को इन कुछ गालियों ने बखूबी बेनकाब कर दिया। कहानी की भाषा में गालियों का प्रयोग अश्लीलता को नहीं उस सामाजिक बनावट से पाठक को रूबरू करता है, जिसमें इन गालियों का प्रयोग होता है। अश्लीलता साहित्य में नहीं बल्कि समाज की सोच में है। साहित्य तो बस इस सोच को सार्वजनिक पटल पर लाता है।

कवच कहानी में भाषा की एक अन्य सामाजिक विशेषता इसमें शब्दों के दोअर्थी प्रयोग की है। एक अर्थ सामान्य अर्थ लक्षणा का है। यह सीधे सीधे पदार्थ की सूचना देता है। आम के कथन से आम का ही बोध होता है। दूसरा अर्थ स्त्री के शरीर के अंग का अर्थ देता है। दोअर्थी संवादों का प्रयोग ग्रामीण बोलचाल की विशेषता है। इस जीवन में लोग कई प्रकार के निषेधों अथवा टेबू का पालन करते हैं। यौन विषय भी ग्रामीण जीवन में टेबू के रूप में उपस्थित होता है। इस विषय पर बातचीत होना जीवन में लाजिम है और उसे छिपाना भी जरूरी है। दो अर्थी शब्द इन दोनों ही उद्देश्यों की पूर्ति करता है। भाषा की यह भंगिमा सामाजिक ढाँचे से निकलती है। समाज अपने चलन में जितना सामंती होगा, दोअर्थी शब्दों का उसमें उतना ही चलन होगा। इसे हिंदी क्षेत्र की बोलियों से समझ सकते हैं। घोर सामंती किस्म के पूर्वी समाज में भोजपुरी भाषा में ऐसे शब्दों के चलन की बहुतायत है। वहीं, अपेक्षाकृत कम विषमता के मेरठ प्रदेश में ऐसे शब्दों का चलन कम हैं।

7.7 सारांश

कवच कहानी में उर्मिला पवार ने बच्चे गौन्या के द्वारा दलित स्त्री जीवन के यथार्थ को सामने रखा है। यह जीवन अभाव का जीवन है लेकिन हताशा का नहीं। दलित स्त्री इंदिरा इस अभाव को अपने श्रम से भरने का प्रयास करती है। जीवन में निरंतर संकट और मुसीबतों के बीच उसके पास एक सकारात्मक नजरिया है। हालात बदतर हैं लेकिन इसे बेहतर बनाने का प्रयास भी जारी है। वह तीन स्तरों पर शोषण से लड़ती है। एक स्त्री, एक दलित और एक मजदूर। दलित स्त्री के इसी संघर्ष की प्रो. विमल थोरात ने तिहरा शोषण नाम से व्याख्या की है। उसका वर्तमान कुछ भी हो वह अपने भविष्य को

बेहतर करना चाहती है। इसमें बच्चा गौन्या भविष्य का संकेत देता है। माँ इंदिरा अपने साहस से उसके अंदर कवच की सुरक्षा का अहसास भरती है। कहा जाता है किसी के आत्मसम्मान पर हमला किया जा सकता है,उस पर चोट पहुचाई जा सकती है लेकिन उसे छीना नहीं जा सकता है, बशर्ते वह इसे खुद समर्पित नहीं कर दे। कहानी के अंत में इंदिरा अपने सम्मान के लिए डटकर संघर्ष करती है। इस संघर्ष का ही प्रभाव था कि हमलावार की हिम्मत जवाब दे जाती है और वे मैदान छोड़ कर भाग जाते हैं। इंदिरा का यह सम्मान वास्तव में दलित स्त्री के सम्मान का रूपक है।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 8 रोटले को नज़र लग गई

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 गुजराती दलित साहित्य का वैचारिक आधार

8.3 गुजरात में दलित आंदोलन का दौर

8.4 गुजराती दलित कहानी की पृष्ठभूमि

8.5 रोटले को नज़र लग गई : कहानी की कथावस्तु

8.6 दो समाजों के अंतर्विरोध

8.7 सारांश

8.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अंतर्गत आप गुजराती के कहानीकार जोसेफ मेकवान द्वारा रचित 'रोटले को नज़र लग गई' कहानी का अध्ययन करेंगे। प्रस्तुत कहानी गुजरात के उस जातिवादी समाज के स्वरूप को उजागर करती है जहां बचपन से ही बच्चों के भीतर जातिवादी संस्कार रोप दिए जाते हैं । वे जातिवादी संस्कारों को ग्रहण किए बच्चे अपने से निम्न, जाति एवं वर्ग के स्तर पर रहने वाले बच्चों के साथ कदम-कदम पर भेदभाव करते हैं। यह कहानी भारतीय समाज के उन सभी शिक्षण संस्थानों का प्रतिनिधित्व करती है जहां तथाकथित निम्न जाति के गरीब बच्चों के साथ घृणास्पद एवं अमानवीय व्यवहार किया जाता है। इस अर्थ में यह एक महत्वपूर्ण कहानी है।

भारतीय समाज एक जातिवादी समाज है, इस तथ्य से इंकार नहीं किया सकता। हजारों वर्षों से एक समुदाय को जाति के आधार पर समाज के विकास की मुख्यधारा से सचेतन रूप से बेदखल कर दिया गया। इसी बेदखली और षड्यंत्र के खिलाफ आधुनिक युग में विभिन्न प्रकार के आंदोलन चलाये गये। इसमें दलित साहित्य की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

जोसेफ मेकवान द्वारा लिखित 'रोटले को नजर लग गई' कहानी एक ऐसे बाल हृदय के मनोभावों को प्रस्तुत करती है जो स्कूल में भेदभाव के दंश को झेलता है। गेहूँ की रोटी एवं अन्य पकवान के स्वाद को महसूस करने के लिए टिफिन चुरा लेता है। वह अपनी बेस्वाद रोटी के स्वाद को भूल जाना चाहता है। बस यही उसका अपराध है। यह कितना बड़ा अपराध है और इसकी परिवर्तन क्या होती है। इसे आप कहानी के अध्ययन से स्वयं अंदाजा लगा सकेंगे।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- गुजराती दलित साहित्य के वैचारिक आधार और संवेदना–शिल्प को जान पायेंगे;
- शिक्षा संस्थाओं में दलित बच्चों का होने वाला शोषण और मानसिक उत्पीड़न के पहलुओं से परिचित होंगे;

- 'रोटले को नजर लग गई' कहानी में अभिव्यक्त बालमनोविज्ञान को समझ सकेंगे;
- उच्चजातीय अध्यापक एवं विद्यार्थियों के भेदभावपूर्ण व्यवहार से व्यभित, दलित बच्चों की त्रासदी को समझ सकेंगे; और
- कहानीकार द्वारा विषमतावादी समाज एवं ब्राह्मणवाद के प्रतिपक्ष में प्रस्तुत वैचारिकी को जान सकेंगे। आइए, कहानी का विस्तार से अध्ययन करते हैं।

8.1 प्रस्तावना

आज समूचे भारत में दलित साहित्य ने अपनी एक अलग पहचान बनायी है। दलित साहित्य भारत की लगभग सभी भाषाओं में लिखा जा रहा है। इसका कारण बहुत ही स्पष्ट है, चूँकि संपूर्ण भारतीय समाज जाति के आधार पर विभाजित है। उसी के आधार पर समाज में सभी प्रकार के मानवीय संबंध निर्धारित होते हैं एवं प्रभावित होते हैं। सभी अकादमिक संस्थानों एवं गतिविधियों में जाति ही आपकी योग्यता का निर्धारण भी करती है। ऐसे में एक बहुत बड़े समुदाय को सभी संस्थानों, क्रियाकलापों, विकास की परिधियों, गांवों, कुओं और मन्दिरों से बेदखल कर दिया जाता है। मनुष्य का शोषण जितना सचेतन है उतना ही प्रतिरोध भी तो स्वाभाविक होगा। इसलिए तमाम तरह के आंदोलनों के माध्यम से दलित समुदाय ने इस वर्चस्ववादिता के खिलाफ एक व्यापक मुहिम प्रारंभ की। दलित साहित्य भी इसी मुहिम का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। साहित्य मनुष्य की चेतना एवं संस्कारों को प्रभावित करता है। वह समाज एवं इंसान को संवेदनशील बनाता है। इस अर्थ में दलित साहित्य एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है।

गुजराती भाषा में लिखित दलित साहित्य भी गुजराती समाज को बदलने की प्रक्रिया के तहत ही लिखा जा रहा है। कविता, कहानी और उपन्यास के माध्यम से दलित समुदाय अपने शोषण के अनुभव और परिवर्तन की चेतना को अभिव्यक्ति दे रहा है। हालांकि अन्य भाषाओं की तरह ही गुजराती दलित साहित्य का प्रारंभ भी कविताओं के माध्यम से ही हुआ था। तत्पश्चात् वह साहित्य की अन्य विधाओं में भी लिखा जाने लगा है। प्रस्तुत कहानी विधा को केन्द्र में रखा है। गुजराती दलित कहानी का महत्वपूर्ण रचनाकार जोसेफ मेकवान इस अर्थ में एक महत्वपूर्ण कथाकार हैं। भाषा, शिल्प और अंतर्वस्तु के द्वारा इन्होंने गुजराती दलित साहित्य को एक अलग मुकाम दिया है। आइए, उनकी कहानी का विस्तार से अध्ययन करते हैं।

8.2 गुजराती दलित साहित्य का वैचारिक आधार

दलित साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि या आधार के रूप में महात्मा बुद्ध, महात्मा ज्योतिबा फुले और डा. भीमराव आंबेडकर का उल्लेख पहले भी आया है। यह स्थापित हो चुका है कि बुद्ध, फुले और आंबेडकरवादी विचारों और मूल्यों को नकार कर लिखा जाने वाला साहित्य दलित साहित्य की श्रेणी में नहीं माना जाएगा। दलित साहित्य का मुख्य आधार दलित चेतना है। यह दलित चेतना किसी भी दलित या गैर-दलित दोनों में हो सकती है।

इस प्रकार दलित चेतना को आधार मानकर या बुद्ध, फुले, आंबेडकर के वैचारिक मूल्यों से प्रेरित साहित्य को हम प्रामाणिक दलित साहित्य और अप्रामाणिक दलित साहित्य की कोटी में विभक्त करना चाहेंगे। यहाँ स्पष्ट है कि दलित चेतना या वैचारिकी या बुद्ध, फुले, आंबेडकर को नकारकर लिखा गया साहित्य चाहे वह दलित द्वारा रचित हो या गैर-दलित द्वारा, उसे दलित साहित्य के अंतर्गत नहीं माना जाएगा। न तो वह प्रामाणिक दलित साहित्य की श्रेणी के अंतर्गत आता है और न ही अप्रामाणिक दलित साहित्य की कोटि में आएगा। उसे तथाकथित कलावादी साहित्य की कोटि में रखा जाएगा। वर्चस्ववादी या कहें

कि यथास्थितिवादी वैचारिकी, संस्कृति और व्यवस्था की खिलाफत करने और उसके समानान्तर हाशिये के समूहों (दलित, आदिवासी एवं स्त्री) के लिए महत्वपूर्ण कार्य करने का श्रेय इतिहास के अलग-अलग कालखंडों में महात्मा बुद्ध, महात्मा ज्योतिबा फुले और डॉ भीमराव आंबेडकर को दिया जाता है। तीनों महानुभावों ने दर्शन, चिंतन एवं व्यवहार के स्तर पर निम्नवर्गीय समुदायों के लिए अपना उल्लेखनीय योगदान दिया।

महात्मा बुद्ध सर्वप्रथम दार्शनिक चिंतक थे जिन्होंने वर्चस्ववादी इस ब्राह्मणवाद के शोषणकारी तंत्र के खिलाफ एक समानतावादी व्यवस्था के लिए दार्शनिक, वैचारिक और व्यावहारिक स्तर पर कार्य किया। महात्मा बुद्ध भारत के पहले दार्शनिक चिंतक थे जिन्होंने पहली बार दलितों-शूद्रों व स्त्रियों के लिए शिक्षा के द्वार खोल दिए थे। इसके लिए उन्होंने वर्चस्ववादी व्यवस्था के शिक्षण संस्थान 'गुरुकुल' जिन पर तथाकथित सवर्ण लोगों का अधिकार था, इसके समानान्तर 'बौद्ध विहारों' की स्थापना की और इतिहास में पहली बार हाशिए पर रहे समुदायों के लिए शिक्षा के द्वार खोल दिए। उन्होंने पहली बार दार्शनिक स्तर पर 'भाग्य-कर्मफलवाद' के बरक्स 'कार्य-कारण' आधारित अवधारणा को सामने रखा। इसका अर्थ था कि भाग्य और कर्मों के आधार पर समाज में ऊँच-नीच का विभक्तीकरण नहीं है बल्कि इसके ठोस कारण है। उनका मानना था कि बिना ठोस कारण के कुछ भी नहीं। कोई भी कार्य बिना कारण के नहीं होता। इसीलिए हाशिए के समूहों की इस दुर्दशा के कारणों को समझकर इसे दूर किया जा सकता है। इसीलिए उन्होंने दलितों-शूद्रों-स्त्रियों की शिक्षा पर अधिक बल दिया। दूसरे महत्वपूर्ण चिंतक के रूप में आधुनिक युग में भारतीय नवजागरण के अग्रदूत महात्मा ज्योतिबा फुले का नाम आता है। ये महाराष्ट्र से संबंधित रहे। इन्होंने भी वर्चस्ववादी ब्राह्मणवादी व्यवस्था जो जातिवादी मूल्यों के आधार पर समाज में भेदभाव करती थी उसका विरोध किया। इन्होंने महाराष्ट्र में दलित-शूद्र-स्त्री शिक्षा की वकालत की और स्त्रियों से संबंधित भारत में प्रथम स्कूल खोलने का श्रेय इन्हीं को जाता है। इनकी पत्नी सावित्रीबाई फूले को प्रथम स्त्री शिक्षिका होने का श्रेय प्राप्त है। महिलाओं के लिए बड़ा युगान्तरकारी कार्य करने के कारण हाशियेकृत समाज और स्त्रियाँ इन्हीं के जन्म दिवस को स्त्री मुक्ति दिन के रूप में मनाती हैं। महात्मा ज्योतिबा फुले ने विवेक, ज्ञान और शिक्षा पर अधिक बल दिया। इन्होंने महाराष्ट्र में जाति आधारित भेदभाव का खुलकर विरोध किया।

दलित साहित्य आंदोलन के तीसरे महत्वपूर्ण चिंतक, आंदोलनकर्मी और दार्शनिक डॉ. भीमराव आंबेडकर हैं। इन्होंने बचपन से ही जाति व्यवस्था के दंश को मर्मांतक पीड़ा के स्तर पर झेला था। गाँव, शहर, स्कूल, कॉलेज, बस्ती, मुहल्ले, खेल का मैदान हर जगह दलितों को प्रताड़ित किया जाता रहा है। पर प्रतिरोध करने की, आगे बढ़ने के और संघर्ष करने की दलितों की चेतना मर गई थी। लेकिन डॉ. आंबेडकर ने दलितों को प्रेरित किया। इसीलिए ये बौद्धिक स्तर पर जहाँ जातिवाद के ऐतिहासिक कारणों की खोजबीन करते रहे, विश्लेषण करते रहे, वहीं व्यवहारिक स्तर पर दलितों को मंदिर में प्रवेश कराने की लड़ाई से लेकर सार्वजनिक तालाब से पानी भरने के अधिकार के लिए लड़ते रहे। इन्होंने महाराष्ट्र ही नहीं बल्कि संपूर्ण भारत की तथाकथित अछूत एवं शूद्र जातियों को एकताबद्ध करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। इन्हीं की प्रेरणा से पूरे भारत में दलित आंदोलन की रूपरेखा का निर्माण हुआ। राजनीतिक परिवर्तन की आकांक्षा के साथ-साथ साहित्यिक स्तर पर भी महत्वपूर्ण समानान्तर लेखन किया गया। इन आंदोलन के आधारस्रोत के रूप में महात्मा बुद्ध, महात्मा ज्योतिबा फुले और डॉ. आंबेडकर के चिंतन की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इन तीनों की वैचारिकी से ही आंबेडकरवादी वैचारिकी-सैद्धांतिकी का निर्माण होता है। यही वैचारिकी गुजराती दलित साहित्य विमर्श एवं आंदोलन की भी प्रेरणास्रोत है।

8.3 गुजरात में दलित आंदोलन का दौर

गुजरात में दलित आंदोलन का प्रारंभिक दौर हालांकि बहुत ही चुनौतीपूर्ण था। इसे दो प्रकार की चुनौती मिल रही थी। पहली चुनौती थी महात्मा गांधी द्वारा अछूतोद्धार के रूप में चलाये जा रहे सामाजिक कार्य से। दूसरी चुनौती थी गुजरात में स्थापित तथाकथित ऊँची जातियों के वर्चस्व से। यह दूसरे प्रकार की चुनौती तो दलित आंदोलन को हर जगह मिल रही थी लेकिन गाँधीजी की अछूतोद्धार संबंधी सामाजिक चुनौती अधिक मजबूत थी। इसका स्पष्ट कारण था, चूँकि गांधी जी गुजरात से ही थे। वे एक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय राजनेता के रूप में, आजादी के आंदोलन के सर्वस्वीकृत नेता के रूप में स्थापित थे। वे न केवल स्थापित थे बल्कि आम जनता के हृदय पर राज कर रहे थे। ऐसे में डॉ. आंबेडकर की सैद्धांतिकी से प्रेरित किसी भी प्रकार की गतिविधियों का संचालन करना एक प्रकार से जोखिम भरा कदम भी था। ऐसे समय में गुजरात में दलित आंदोलन का सूत्रपात करना एक चुनौती थी और इसे वहां के सामाजिक एवं साहित्यिक आंदोलन कर्मियों ने बखूबी स्वीकार भी किया।

बाबासाहेब की प्रेरणा से महाराष्ट्र एवं देश के अन्य क्षेत्रों एवं राज्यों में दलित आंदोलन की नींव पड़ी। किसी न किसी रूप में आंबेडकरवादी सैद्धांतिकी और चेतना का ही परिणाम था कि आज पूरे भारत में दलित आंदोलन समाज परिवर्तन आंदोलनों में अपनी अग्रणी भूमिका निभा रहा है। समता सैनिक दल, शिडयूल कास्ट फैडरेशन और तत्पश्चात रिपब्लिकन पार्टी ने शुरुआती दौर में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। इन संगठनों ने अन्य राज्यों में भी इनकी क्षेत्रीय इकाइयाँ बनायी। गुजरात में 28 जून 1939 को अहमदाबाद स्थित खानपुर विस्तार में, छात्रों के एक हॉस्टल में डॉ. आंबेडकर ने भाषण दिया था। गाँधी जी से प्रभावित इस राज्य में उन्हें काले झण्डे तक दिखाये गये थे। डॉ. आंबेडकर की मृत्यु के उपरान्त महाराष्ट्र एवं देश के अन्य राज्यों में विभिन्न नामों से दलित मुक्ति के आंदोलन प्रारंभ हो चुके थे। लेकिन सभी आंदोलनों का सिरमौर महाराष्ट्र ही बना रहा। सन 1972 में मुम्बई के वरली काण्ड के बाद दलित साहित्य से जुड़े प्रमुख दलित आंदोलनकर्मी राजा ढाले, नामदेव ढसाल, जे.वी. पवार, अर्जुन डांगळे, अरूण कांबले जैसे दलित युवाओं ने 'दलित पैंथर' की नींव डाली। इसी से प्रेरणा लेकर गुजरात के जोशीले युवा दलित आंदोलन डॉ. रमेश चन्द्र परमार, वालजी भाई पटेल, नारणवीरा इत्यादि ने भी सन् 1974 की दलित पैंथर की शुरुआत की।

गुजरात में एक तरफ गांधी जी द्वारा प्रेरित अछूतोद्धार प्रारंभ हो चुका था वहीं दूसरी तरफ डॉ. आंबेडकर की सैद्धांतिकी से प्रेरित परिवर्तनकामी चेतना उभरी थी। सन् 1974 को गुजरात 'दलित पैंथर' से पूर्व कुछ पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित हाने लगी थी। सन् 1930 में बाबासाहेब डॉ. आंबेडकर से प्रभावित होकर लल्लुभाई मकवाणा ने 'नवयुवक' नाम से पत्रिका निकालनी प्रारंभ की। इसी प्रकार दलितोत्थान के लिए समर्पित सामाजिक संगठन 'अस्पृश्यता निवारण संघ' ने सन् 1939 में एक अन्य पत्रिका 'दलित उन्नति' प्रकाशित की थी। सन 1939 में ही नागजी भाई आर्य ने 'दलित गुजरात' पत्रिका निकाली।

सामाजिक स्तर पर दलित समुदाय के लिए बने संगठनों ने एक ऐसी पृष्ठभूमि का निर्माण किया जिसके कारण पढ़े-लिखे तबकों ने अपने समुदाय को जागृत करने के लिए पत्र-पत्रिकाएं निकालने की कोशिशें प्रारंभ की। पत्र-पत्रिकाएं निकालने का उद्देश्य केवल जागृति लाना ही नहीं था बल्कि गैर-दलितों के उन संवेदनशील मनुष्यों को अपनी वेदना और तकलीफों का गवाह भी बनाना था। अपनी मुक्ति के सफर में ऐसे संवेदनशील गैर-दलित हमसफर भी चाहिए थे जो उनके साथ कंधे से कंधा मिलाकर चल सकें। साहित्य

का उद्देश्य मनुष्य और समाज को संवेदनशील बनाकर, विवेक को जागृत कर परिवर्तन की एक बुनियाद तैयार करना होता है। इसीलिए सामाजिक आंदोलन के पश्चात् अब यह जरूरत महसूस होने लगी कि आंबेडकरवादी एवं परिवर्तनवादी साथियों की तलाश की जाए। इसके लिए लेखकीय मंच से उपयुक्त और सार्थक यात्रा कोई दूसरी नहीं हो सकती थी। इसी को ध्यान में रखते हुए टंकार, आतंवाद, अम्युदय, दीनबंधु, दलितबंधु, मुक्तिनायक, दिशा, दलितशक्ति, दलित अधिकार, हयाति जैसी अनेक पत्र-पत्रिकाएं गुजराती भाषा में निकालना प्रारंभ हुआ। इन पत्र पत्रिकाओं ने गुजराती दलित साहित्य के लिए न केवल एक पृष्ठभूमि बनाने का कार्य किया बल्कि दलित लेखकों की एक भावी पीढ़ी का भी निर्माण किया।

8.4 गुजराती दलित कहानी की पृष्ठभूमि

गुजराती दलित साहित्य की शुरुआत करने में और उसको एक महत्वपूर्ण मुकाम तक ले जाने में गुजराती दलित पैंथर के साहित्यिक पत्र 'आक्रोश' की सार्थक भूमिका माननी चाहिए। गुजराती दलित साहित्य के आलोचकों ने इस तथ्य को स्वीकार कर लिया है कि गुजराती दलित साहित्य का प्रारंभ 14 अप्रैल 1978 को प्रकाशित 'आक्रोश' पत्रिका से ही माना जाना चाहिए। इसके संपादक रमेशचन्द्र परमार थे।

किसी भी साहित्यिक आंदोलन का सूत्रपात, काव्य विद्या था कविता से ही होता है। गुजराती ही नहीं वरन सभी भाषाओं के दलित साहित्य का प्रारंभ कविता लेखन से ही प्रारंभ हुआ। प्रारंभिक दौर में गुजराती दलित कविता 'आक्रोश' और 'कालो सूरज' में प्रकाशित होती रही। सन् 1989 में रमेशचन्द्र परमार और मनीषी जानी ने दलित कविता नामक पुस्तक का संपादन किया जो गुजराती कविताओं का प्रथम संकलन माना जाता है। इसके बाद कुछ अन्य किताबें भी गुजराती दलित कविताओं को लेकर संकलित की गई। इसमें चन्दु महेरिया ने 'अस्मिता' नाम से पुस्तक प्रकाशित करायी। नीरव पटेल, दलपत चौहाण, प्रवीण गढ़वी, साहिल परमार, राजु सोलंकी, ए.के. डोडिया और पुरूषोत्तम जाथव इत्यादि कवि की रचनात्मक अभिव्यक्तियों ने दलित साहित्य आंदोलन को मजबूती दी।

कविता के बाद गुजराती साहित्य में कहानियों का दौर भी प्रारंभ होता है। हालांकि मराठी और हिन्दी की तरह यहां आत्मकथाएं बहुत ही कम लिखी गयी। एकमात्र आत्मकथा बी. केशर शिवम द्वारा रचित 'पूर्णसत्य' ही उपलब्ध है। पता नहीं कौन से कारण रहे कि गुजराती में आत्मकथाओं का दौर अभी प्रारंभ नहीं हुआ। हालांकि अन्य भाषाओं की तरह ही गुजराती दलित साहित्य उस समानान्तर सांस्कृतिक और सामाजिक व्यवस्था के निर्माण में सक्रिय है। जो किसी भी प्रकार के भेदभाव को नहीं मानता। पर इसे कहने में कोई भी गुरेज नहीं है कि गुजराती दलित साहित्य एवं सामाजिक आंदोलन पर अभी गांधी जी का प्रभाव पूरी तरह समाप्त नहीं हो पाया।

अगर गुजराती साहित्य के अंतर्गत कहानियों पर बात की जाए तो सन 1987 ई. में 'गुजराती दलित वार्ता' नाम से एक कहानी संग्रह मोहन परमार तथा हरीश मंगलम ने संपादित होकर किया था। इसमें वे ही लेखक शामिल थे जो जन्मना दलित थे और जिन्होंने दलित जीवन परिवेश, अनुभव और वेदना को अपनी कहानियों की अंतर्वस्तु बनाया था। इस कहानी संग्रह में लगभग 14 कहानीकारों को शामिल किया गया था। एक प्रकार से कहा जाए तो यह दलित रचनाकारों की वह प्रथम पीढ़ी थी जिसने गुजरात जैसे घोर-जातिवादी समाज में तमाम चुनौतियों का सामना करते हुए अपने कार्य को जारी रखा।

ये 14 कहानीकार मात्र रचनाकार नहीं थे बल्कि दलित समाज के वे आंदोलनकर्मी थे जिन्होंने हजारों वर्षों के दहकते लावे को अपनी शिराओं के भीतर महसूस कर शब्द रूप में अभिव्यक्त कर दिया था। हालांकि प्रस्तुत कहानी के लेखक जोसेफ मेकवान इनमें शामिल नहीं है। लेकिन इस तथ्य को कैसे नकारा जा सकता है कि एक कहानीकार के रूप में ये उस समय उपस्थित थे।

इसी प्रकार सन् 1990 ई. में 'नया मार्ग' नामक पत्रिका ने प्रतिबद्ध दलित कहानी विशेषांक' निकाला। जिसके संपादक इन्दु कुमार जानी थे। इसमें अन्य भाषा के प्रमुख दलित कहानीकार यथा बाबूराव बागूल, और दया पवार (मराठी) की कहानियों को भी स्थान दिया गया था। यह विशेषांक अपने पूर्ववर्ती विशेषांक से इसलिए भिन्न था कि इसमें दलित विषयों पर लिखने वाले दलित, गैर-दलित, मुस्लिम, इत्यादि रचनाकारों की भी कहानियाँ सम्मिलित की गई थीं। इसी विशेषांक में जोसेफ मेकवान की प्रमुख कहानी 'रोटले को नज़र लग गई' भी प्रकाशित हुई। साथ ही प्रवीण गढ़वी की 'अन्तरव्यापक' इत्यादि प्रकाशित हुई। तत्पश्चात गुजरात में दलित कहानियों को लेकर बहुत से लोगों ने संपादन कार्य किया और पत्रिकाओं ने अपने विशेषांक भी निकाले।

जोसेफ मेकवान गुजराती दलित साहित्य में वरिष्ठ जाने माने रचनाकार हैं। उन्होंने दलित जीवन बोध, परिवेश और वेदना को अपने सशक्त अनुभवों के रूप में अभिव्यक्त किया है। गुजराती दलित साहित्य आज सभी विधाओं में लिखा जा रहा है। उसने बहुत से लेखकों की ऐसी महत्वपूर्ण पीढ़ी का निर्माण किया है जो आज स्थापित सवर्ण साहित्य के समानान्तर नये तेवर और भाषा के साथ नयी ताजगी और खुशबू लिए अपना साहित्य रच रहा है। उपर्युक्त संक्षिप्त परिचय में हमने गुजराती दलित साहित्य को समझने की कोशिश की। आगे हम जोसेफ मेकवान द्वारा रचित कहानी रोटले को नज़र लग गयी है का विश्लेषण करेंगे।

8.5 रोटले को नज़र लग गई : कहानी की कथावस्तु

जोसेफ मेकवान द्वारा रचित कहानी रोटले को नज़र लग गयी एक यथार्थवादी कहानी है। कहानी गुजरात की उस जाति व्यवस्था के चरित्र को उजागर करती है जहाँ बच्चे बचपन से ही असमानता, अन्याय और भेदभाव का पाठ सीखते हैं। कहने को तो स्कूल में सभी बच्चों को समान रूप से प्रेम और समानता का पाठ पढ़ाया जाता है लेकिन व्यवहार में ऐसा नहीं है। अध्यापक से लेकर छात्र तक सभी असमानता और भेदभाव की चेतना से लैस अपने से हीन या तथाकथित निम्न जाति के बच्चे के साथे किसी भी तरह का मानवीय व्यवहार नहीं करते। यह कहानी गुजरात के चरोत्तर प्रदेश के खेत मजदूरी करके जीवनयापन करने वाले गरीब पति पत्नी हेता, धनजी और उनके इकलौते बेटे रघु पर आधारित है और धनजी स्वयं गरीब हैं लेकिन वे नहीं चाहते कि उनका इकलौता बेटा भी उन्हीं की तरह अनपढ़-गंवार रह जाए और उन्हीं की तरह मजदूरी करे। संभवतः दुनिया का कोई भी माँ-बाप नहीं चाहेगा कि उनकी सन्तान गरीब अपढ़ रह जाए। हेता और धनजी दोनों चाहते हैं कि रघु किसी प्रकार पढ़ लिख कर बड़ा साहब बन जाए। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे किसी बड़े आदमी से जान-पहचान के चलते अपने बेटे रघु का शहर के स्कूल में एडमिशन करा देते हैं। शहर का यह स्कूल गांव से लगभग तीन मील दूर था जहां सवेरे-सवेरे रघु जाने लगा। जैसा कि रचनाकार ने बताया है कि वह पढ़ाई में अपने सहपाठियों से हमेशा अव्वल रहता। वह तीक्ष्ण बुद्धि और मेहनती था। स्कूल में अकसर अध्यापक उससे क्रिकेट के साहब कहते, रघु तुझे तालीम मिले तो दूसरा करसन घावरी हो सकता है। भूगोल के साहब पहला सवाल उससे ही पूछते। रचनाकार ने जगह-जगह पर उसकी प्रतिभा और बुद्धि कौशल का परिचय कराया है। संस्कृत के शिक्षक रघु

के शुद्ध उच्चारण और श्लोक को सुनकर अपना माथा पीट लेते। गणित के अध्यापकों को यह शंका रहती थी कि यह कहीं ट्यूशन पढ़ता है। इतनी प्रतिभाओं का धनी था रघु।

उसके घर की माली हालत बहुत ही खराब थी। खाने के लिए उसे घर में प्रतिदिन बाजरे की रोटी, मिर्च की चटनी और छाछ ही नसीब हो पाती थी। रोज सवेरे रघु एक रोटी में से आधी खा लेता और आधी रोटी स्कूल ले जाता था छुट्टी (लंचटाइम) में खाने के लिए। रघु को अकेले खाना खाने में कभी हिचकिचाहट या शर्म नहीं आती थी। लेकिन धीरे-धीरे उसने महसूस किया कि अन्य छात्र उससे घृणा करते हैं और दूर भगाते हैं। वहां उसका कोई भी दोस्त नहीं बन पाया। हालांकि यहां आश्चर्य होता है कि उसकी तीक्ष्ण बुद्धि और पढ़ाई में तेज तर्रार होने के बावजूद कोई दोस्त नहीं था। धीरे-धीरे उसने अपनी प्रतिदिन खायी जाने वाली आधी रोटी और अन्य छात्रों के रंग-बिरंगे, टिफिन में सेंडविच, रोटी, पराठे एवं अन्य पकवानों को देखा। उनकी महक से रघु की जीभ लपलपाने लगी। वह भी उन पकवानों को खाना चाहता था।

अब घर में रघु बाजरे से बनी रोटी को खाना नहीं चाहता था और न हीं उसे स्कूल में लाना चाहता था। वह अंग्रेजी के एक निबंध में अपने घर को 'होम' या 'हाउस' नहीं लिखता बल्कि 'हट' (झोपड़ी) कहता है। मनोवैज्ञानिक स्तर पर उसका व्यवहार बदल रहा है जिसे हेता या धनजी समझ नहीं पा रहे।

यह कहानी एक स्तर पर बाल मन की उन गहराइयों का बहुत ही सूक्ष्म रूप में निरूपण करती है जिसे हम सामान्यतः समझ नहीं पाते। वह रघु में आ रहे परिवर्तन से माँ-बाप अनभिज्ञ हैं। पढ़ाई एक प्रकार से मनुष्य में चेतना और विवेक को जागृत करती है। लगता है कि शहर की पढ़ाई, वहां के परिवेश और अपने घर के परिवेश के बीच रघु एक बहुत बड़ा गैप महसूस करता है। उसमें सामंजस्य कैसे बिठाये ये वह छोटा बच्चा क्या जाने। वह भी माँ हेता से अच्छे खाने की फरमाईश करना चाहता है पर वास्तविकता को जानता है। वह उस काली-स्याह रोटी को खाना नहीं चाहता पर माँ को दुःख होगा इसलिए खा लेता है। बल्कि माँ-बाप की स्थिति को समझ पा रहा है पर माँ-बाप उस बालक के मनोभावों और मनोविज्ञान को नहीं समझ पा रहे।

एक दिन रघु नये प्रकार के अप्राप्य भोजन के स्वाद को पाने के लिए अपने सहपाठी के बस्ते से टिफिन बॉक्स निकाल लेता है ओर जीवन में पहली बार नये प्रकार के भोजन का स्वाद लेता है। देखा जाए तो यह बहुत बड़ा अपराध नहीं है। एक भूखे, उपेक्षित और मजबूर बच्चे का पेट की क्षुधा शान्त करने के लिए और अच्छे भोजन की चाह के लिए दूसरे का टिफिन लेना भर है। पर समाज के तथाकथित उच्चसंस्कारी लोगों को यह अपराधिक मामला लगता है। रघु पकड़ा जाता है और उसने मिन्टु नामक जिस सहपाठी का टिफिन बॉक्स चुराया था उसके पिता स्कूल में आकर प्रिंसीपल से रघु को रस्टीकेट करने की बात करते हुए कहते हैं 'ऐसे चोरों के साथ हमारे संस्कारी समाज के बच्चे पढ़ेंगे तो उनके भी संस्कार बिगड़ेंगे' और इस प्रकार इस कहानी का अंत हो जाता है। तत्पश्चात् हेता और धनजी के जीवन का लक्ष्य धूल धूसरित हो जाता है। कहानी अपने अंत के साथ बहुत से सवालों को हमारे बीच छोड़ जाती है। उन्हीं सवालों, अंतर्विरोधों और इस समाज की वर्चस्ववादिता, तथाकथित संस्कारों को समझने की कोशिश करेंगे। हालांकि इस कहानी को लेकर कई प्रकार से विश्लेषण किया है। गुजराती साहित्य के आलोचकों ने कहानी की अंतर्वस्तु और नायक रघु के आदर्शीकरण को ही कठघरे में खड़ा करने की कोशिश की है। आगे हम इस कहानी का अन्य आलोचकों के विचारों को ध्यान में रखकर विश्लेषण करेंगे।

8.6 दो समाजों के अंतर्विरोध

'रोटले को नज़र लग गई' कहानी भारतीय समाज में व्याप्त दो समाज, समुदाय और दुनिया की वास्तविकता, जीवन-मूल्य, खान-पान, रहन-सहन और सोच को प्रस्तुत करती है। जो समाज, समुदाय, जातियां, वर्ग, में विभाजित हो वहां दो प्रकार की संस्कृतियाँ विकसित होती है। एक वर्चस्ववादी समूह की जातिश्रेष्ठता के अहं का विस्तार सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक, धार्मिक संस्थाओं पर वर्चस्व रखने और इन पर अपना प्रभुत्व रखने में दिखाई देता है। दूसरी संस्कृति सामाजिक संरचना से बहिष्कृत किए गए, अस्पृश्य-दास-श्रमिकों की संस्कृति कदान्न खाकर हेय दृष्टि को सहने की विवशता, आर्थिक उत्पादन साधनों से वंचित, धर्म के आदेश के पालन न करने पर जघन्य अत्याचार झेलकर जीने को मजबूर दलित वर्ग। रघु इस दूसरी संस्कृति का प्रतिनिधि है। विवंचना, वंचना, अवहेलना, बहिष्करण और हेयता को झेलने को मजबूर कर दिया गया। अगर इसे कहा जाए कि दो प्रकार की वास्तविकताओं की भीतरी बुनावट में अनेक वास्तविकताओं की अन्तरव्याप्ति दिखाई देती है। समाज की एक परत उघाड़ने सें वास्तविकताओं की कई परतें हमारे सामने उपस्थित होती है। यह कहानी समाज की उन्हीं वास्तविकताओं को हमारे सामने प्रस्तुत करती है।

कहानी का प्रारंभ ही एक ऐसी दुनिया से होता है जो आज भी समाज में हाशिए पर रहने को अभिशप्त हैं। अपने श्रम और मेहनत से समाज और दुनिया के विकास में अपनी महत्वपूर्ण भमिका निभाने यह वर्ग दो वक्त की रोटी भी प्राप्त नहीं कर पाता। ऐसा ही एक परिवार है रघु, हेता और धनजी का। हेता और धनजी का एक ही बेटा है रघु। दोनों चाहते हैं कि किसी प्रकार वह पढ़ लिख जाए। इसीलिए उसका एडमिशन शहर के स्कूल में अपने किसी परिचित के द्वारा वो करवा देते हैं। बस यहीं से समाज को दो दुनिया की वास्तविकताओं से परिचय कहानी में खुद-ब-खुद हमसे होता जाता है।

रोटी के बरक्स रोटला शब्द दो दुनियां की उसी क्रूर सच्चाई से हमारा परिचय कराती है। यह परिवार रूखी-सूखी रोटी खाकर अपना जीवन व्यतीत कर रहा है। किसी प्रकार बाजरे के आटे से बना रोटला ही खाकर जीवन बसर कर पा रहा है। यह रोटला ही उनका नाश्ता, लंच और डिनर है। इसके अलावा खाने को उन्हें कुछ भी सुलभ नहीं है। और यह रोटला भी उन्हें भरपेट नसीब नहीं है। रोटले का अर्थ है बाजरे के दरदरे आटे से, कलेड़ी अर्थात् मिट्टी के तवे पर बनी मोटी, कुरकुरी रोटी जिसे परिवार किसी प्रकार चाय के साथ निगल पाते हैं। नाश्ते का आधा रोटला और लंच का आधा रोटला रघु के हिस्से में आता है ओर ठीक उसी प्रकार माँ हेता के भाग में। पिता धनजी दो रोटले में ही अपनी दिनचर्या चलाते हैं। रूखा, सूखा रोटला खाकर, प्याज और लहसुन की चटनी से कभी कभार गले से नीचे उतारकर जीने को अभिशप्त है यह परिवार। लेकिन बेटे को पढ़ाने की चाह, उन्हें बड़ी समस्या में पहुंचा देती है।

डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर ने शिक्षा पर बहुत महत्व दिया था। उनका मानना था कि शिक्षा से मनुष्य के जीवन में ज्ञान का प्रकाश फैलता है। मनुष्य इससे सही और गलत का फर्क जान पाता है। उसका विवेक जागृत होता है। संभवतः शिक्षा के महत्व को हेता और धनजी ने अपने आप के वंचितपूर्ण जीवन के थपेड़ों को सहते हुए से महसूस किया हो। इसीलिए वे रघु को पढ़ाना चाहते हैं। रघु भी मन लगाकर पढ़ाई करता है। उसमें जन्मजात प्रतिभा है इसीलिए वह अपनी क्लास में अन्य विद्यार्थियों की तुलना में मेधावी छात्र प्रतिभाशाली है। तभी तो कहानीकार ने अध्यापकों की क्या राय है इसे कहानी में विस्तार से बताया है कबड्डी में कोई उसकी बराबरी नहीं कर सकता था। क्रिकेट के शिक्षक कहते रघु तुझे

उचित प्रशिक्षण मिले, तो तू करसन घावरी बनेगा। भूगोल के अध्यापक पहला सवाल उसी से करते। संस्कृत के पंडित शुद्ध उच्चारण के साथ उसे श्लोक बोलते सुनकर सिर पीट लेते, अंग्रेजी के सर उसकी कुशलता से चिढ़ उठते, गणित के अध्यापक शंका करते हुए हमेशा यही पूछते कि तू किसके पास ट्यूशन पढ़ता है? कक्षा में वह सीना तान सकता था, फिर भी उसे यह एहसास हुए बिना नहीं रहता कि एक गुजराती अध्यापक को छोड़कर दूसरा कोई उसे उचित मौका या प्रोत्साहन नहीं देता। वे सभी उसको, उसके कपड़ों को, उसके अद्‌भुत कौशल को तथा उसके रोटले को हिकारत की नज़र से देखते थे।

ऐसी जन्मजात प्रतिभा और अद्‌भुत कौशल के बावजूद वह अपने कपड़े और रोटले के कारण स्कूल में अपने अध्यापकों और सहपाठियों के बीच घृणा की नज़र से देखा जाता। कभी-कभी उसके सहपाठी उसे 'हंगरी डॉग' कहकर मजाक उड़ाते, रघु इस दुर्भाव का कारण समझ नहीं पाता।

पाठशाला में प्रवेश पाने से पहले रघु का सामना संपन्न सवर्ण अहंकारी दुनिया के साथ नहीं हुआ था। वह तो केवल अपनी ही वंचितों, विपन्नों की दुनिया और उसकी वास्तविकता को जानता था जहां सभी बच्चे उसी की तरह कपड़े पहनते, रूखा-सूखा खाते-पीते थे और रहते थे। एक बच्चे की मासूमियत और भोलापन समाज की दो दुनिया के इस अलग-अलग सच को नहीं जानते थे। रघु भी नहीं जानता था। भेदभाव को पहली बार उसने यहीं आकर महसूस किया था। अपने और अन्य बच्चों के बीच में कितना फर्क है उसे उसने यहीं आकर महसूस किया था। खाने-पीने से लेकर, कपड़े, और बोलचाल के तरीके तक को। कथित उच्च व कथित निम्न जातियों के बच्चों के बीच में कभी भी सामान्य संबंध नहीं बन सकते इस क्रूर वास्तविकता को उसने यही आकार पहचाना था।

रघु की चौकस नज़र निहारती है - उन सबों के डिब्बे स्टील के, अथवा रंग-बिरंगे सुन्दर प्लास्टिक के होते हैं, उनमें पूरियां होती हैं, घी चुपड़ी रोटियां होती हैं, सैंडविच या मक्खन लगी डबल रोटी होती है, तरह-तरह की सब्जियां होती हैं, अचार होता है, मिठाइयाँ होती हैं। रघु को तो उनके नाम भी नहीं आते। कई बानगियों को तो उसने जीवन में पहली बार देखा था। तो क्या उसे उनके चखने उनके स्वाद की सिर्फ बातें ही करनी होंगी? वे सब आपस में मिल जुलकर, एक दूसरे की वस्तुओं को अदल-बदल कर और तारीफ करते हुए खाते हैं -

'तुम्हारी मम्मी का बनाया हुआ बर्फ वंडरफुल है'।

'बाई गॉड विपुल। तुम्हारी मम्मी की सूखी सब्जी का टेस्ट तो कुछ अलग ही है।'

'मेरी मम्मी इडली-डोसा की रेसिपी लेने के लिए तुम्कारी मम्मी के पास आने वाली हैं मिन्टू।'

ये उस दूसरी दुनिया की वास्तविकताएं थीं जो रघु के सामने एकदम नयी थीं। अनुभव, भाषा, और आस्वाद की दुनियां। जहां के रंग निराले थे।

ये सब बातें रघु के समझ में नहीं आती, परन्तु वह जो कुछ सुनता, वह सब उसे याद रह जाता।

रघु को इन सब में जो सबसे अधिक आकर्षित करता था वह थी खाने-पीने की वस्तुएं। उसने जीवन में रोटले, प्याज, लहसुन की चटनी, या केंसारी के अतिरिक्त कुछ खाया नहीं था। और जो कुछ खाया था वह बेहद बेस्वाद था। खाने की महक से उसका मन उन्हें

खाने को ललचाता है। वो सोच चला था कि अन्य बच्चे भी उसके रोटले को 'ड्राई ब्रेड' कहकर मांगेंगें और खायेंगे। लेकिन ऐसा नहीं हो पाता। धीरे-धीरे उसे रोटला खाने से नफरत सी होने लगी। वह भी अन्य बच्चों की तरह गेहूँ की बनी रोटी खाना चाहता था। पर माँ तो बेबस और मजबूर थी क्योंकि घर में घी तो बहुत दूर की चीज थी दो बूंद तेल भी नहीं था। गेहूँ का आटा नसीब में नहीं। कैसे वह बेटे की इच्छा को पूरा कर पाती। हेता को जीवन जीने का व्यवहारिक ज्ञान था, समझ थी। लेकिन इस व्यवहारिक ज्ञान और समझ से वह बेटे रघु का उसकी इच्छानुसार पेट तो नहीं भर सकती थी।

दो दुनिया की इस क्रूर वास्तविक समझ में भी बहुत अन्तर था। इसे लेखक ने हेता की सोच के माध्यम से सामने रखने की कोशिश की है। कलयुग की अवधारणा या आगमन की सूचना विश्लेषण लोग अनेक प्रकार से करते हैं। प्रायः तथाकथित उच्चवर्ग, एवं जाति के धार्मिक मानस लोग ऐसा मानते हैं कि आधुनिकता के आगमन से, मूल्यबोध में जो पारंपरिक और प्रतिक्रियावादी मूल्यों का ह्रास हो रहा है यह कलयुग के आगमन की सूचना है। वे चाहते हैं कि समाज में परिवर्तन न हो। ठहरे हुए मूल्यों-मान्यताओं, मानसिकताओं के आधार पर समाज चलता रहे। जाति व्यवस्था और पितृसत्तात्मक मूल्य समाज में बने रहें। दलित, मूढ़ बने रहें एवं औरतें हमेशा उनकी सेवा करें और दासकार्य से मुक्त न हों। औरतें घर की चौखट न लांघें। वे अपने आधिकारों की बात किये बिना कर्तव्य निभायें। दलित एवं मूढ़ों का कार्य श्रम करना रहे। वे इनके बनाये मन्दिरों, स्कूलों, तालाबों, कुओं से दूर रहें और अपने इंसान होने की बात न करें। यदि वे अपने अधिकारों को हासिल करने का प्रयास या संघर्ष करें तो कलयुग आया। क्योंकि इनके वेदों-पुराणों और मनु के समाज में ऐसा होना ही कलयुग का आना है। अब पूर्व परंपराएं रूढ़ि-रिवाज बदलेंगे और गुलाम बनाए गए इंसान मुक्त होकर समता का अहसास करने लगेंगे। लेकिन निम्नवर्गीय दुनियां और समाज के लिए कलयुग मुक्ति के रूप में आता है। वास्तविकता का यह एक दूसरा आईना है जो जीने की व्यवहारिक समझ और व्यवहारिक ज्ञान से इस वर्ग ने हासिल किया है। यह ज्ञान और व्यवहार देता क्या है। इसीलिए कलयुग के आने का विश्लेषण वह इसी व्यवहारिक समझ और ज्ञान के सहारे करती है जिसे लेखक ने स्पष्ट रूप में कहानी में प्रस्तुत किया है।

हेता उन सुखी दिनों की याद कर-कर के प्रायः मूल देखें छोड़ा करती। कवन जानें अब क्या हो गया है? तब दिल बड़ा था और बड़े दिल वालों की दया थी। आज तो सरकार ने जब से हमारी खारित कानून बनाया है तब से न तो खाने भर की मजदूरी मिलती है और न रह-रह कर याद आने वाला दोपहर का खाना ही मिलता है। अगर ऊपर से महँगाई इतनी जियादे हो गई है कि आगे लोग किसी भरोसे जिएँगें, उन्हें समझ में नहीं आता। कलयुग। घोर कलयुग।"

यहां कलयुग की कोई पौराणिक अवधारणा नहीं है बल्कि जीवन जीने की एक व्यवहारिक समझ से उत्पन्न अवधारणा है। और वह है महँगाई। रोटी कैसे मिलेगी। इस प्रकार कलयुग की पैराणिक अवधारणा भरे पेट वाले मनुष्यों की ही अवधारणा बनकर कहानी में आती है।

शिक्षा मनुष्य में ज्ञान और विवेक जागृत करती है। वह सही-गलत का? कर पाता है। वह चीजों में स्पष्ट रूप में अन्तर कर सकता है। कहानीकार, प्रस्तुत कहानी में शिक्षा के महत्व को भी बतलाना चाहते हैं। शिक्षा हांसिल करने की प्रक्रिया में अब रघु में धीरे-धीरे परिवर्तन आने लगा था। वह रोटी और रोटले में अन्तर करने लगा। जिस रोटले को वह बहुत ही चाव से खाता था वह उसे अब बेस्वाद लगने लगा। उसने स्कूल में बेहतरीन, अच्छे विभिन्न प्रकार के खाने, उसकी महक को महसूस किया और देखा। इसके अतिरिक्त जिस घर में वह रहता था, जिसे मां-बाप घर कहते थे, वह घर की नयी परिभाषा, बनावट को पढ़कर

और चित्र में देखकर समझने लगा। एक दिन वह कहता है

"माँ अपना यह घर हाउस नहीं है, इसे होम भी नहीं कहेंगे। यह देखो 'हैप्पी होम' क्या होता है इसे समझा रहा है। इसी प्रकार पिता धनजी जब कहते हैं कि 'बारिश होने के कोई आसार नहीं लग रहे। बादल नहीं दिख रहे। पता नहीं कैसे गुजारा होगा।''

इस साल बरसात थोड़ी देर करने लगी तब चिंता का मारा धनजी आँखों पर हथेली की छाया करके आसमान की और देखते हुए बोला 'बारिस के बादल कहीं दिखाई नहीं देते। क्या जाने ई साल क्या होगा?' और हेता जवाब में कुछ कहे, उसके पहले ही किताब पर से नज़र हटाकर रघु बोल पड़ा दक्षिण-पश्चिम की मौसमी हवा बारिश लाती है बापू। तुम्हारे बादल नहीं, बारिश आएगी, हवा का दबाव जरा कम होने दो। धनजी और हेता दोनों जन यह सुनकर अवाक् रह गये थे।

प्रस्तुत कहानी में दोनों दुनियां की वास्तविकताओं को बहुत ही बारीकी के साथ लेखक ने प्रस्तुत किया है। इस कहानी की क्रूर त्रासदी यह है कि बालक रघु जो कि धनजी और हेता के सपनों का महल था वह एक दिन स्वादिष्ट खाने के लालच में या रोटले से अलग खाने की चाह उसे मिन्टु का लंच बाक्स चुराने के लिए विवश कर देती है। वह टिफिन से खाना निकालकर खा लेता है और पकड़ा जाता है। दूसरी दुनियां के तथाकथित सभ्य-सुसंस्कृत लोग बच्चे की इस भूख की लाचारी और बेबसी को नहीं समझ पाते। उनके जीवन मूल्य, समझ और सुसंस्कृति में भूख, बेबसी, लाचारी का कोई मोल नहीं। वे प्रिंसीपल से रघु को स्कूल से निकालने की बात करते हैं। और इस तरह हेता और धनजी का सपना टूट जाता है।

यह एक क्रूर त्रासदी लिए, सार्थक और बेहतर कहानी है। जहाँ 'रोटले को नज़र लग गई' एक प्रतीकात्मक अर्थ लिए हुए समाज के उस सच को उद्घाटित करती है कि इसी समाज में एक वर्ग समुदाय ऐसा भी है जो आज भी रोटी के लिए, पेट भरने के लिए, जीने के लिए संघर्ष कर रहा है और दूसरा वर्ग भरपेट खाकर चैन की नींद सो रहा है।

8.4 सारांश

'रोटले को नजर लग गई' कहानी दलित जीवन में व्याप्त गरीबी वंचना और अभाव की जाति निहाय स्थितियों की प्रखर आलोचना है। भारतीय सामाजिक संरचना ने जातिगत विभाजन से न केवल इंसानों को अनेक श्रेणियों में बांटा है बल्कि उनके भीतर एक दूसरे के प्रति तिरस्कार घृणा का भाव भी रोप दिया है। विशेषकर साधन संपन्न सवर्णबोध का दलित–गरीबों के प्रति हीनता की दृष्टि से देखा जाना और उनकी गरीबी का मजाक उड़ाना। विषमतावादी सोच जो ब्राह्मणवाद की देन है, ने एक ही समाज में दो संसार का निर्माण किया है। एक को जाति श्रेष्ठता के घमंड के साथ ही संपत्ती, धन संसाधन और सत्ता हासिल है। दूसरा हाशिए का संसार निम्नताबोध से ग्रस्त, दरिद्र, निर्भर, साधनहीन और अधीनता के अभिशाप को झेलने को मजबूर। 'रघू' इस कहानी का मुख्य चरित्र इस दूसरे संसार में रहने तथा अभाव और वंचना में जीने पर मजबूर है। एक ही पाठशाला में पढ़ते हुए दो भिन्न समाजों के अंतर्विरोधों को कहानी में चित्रित करके लेखक जोसेफ मेकवान ने विशमतावादी सोच के निर्माण करता ब्राह्मणवाद पर चोट की है। बालक 'रघू' के बाल मनोविज्ञान द्वारा विशमता की खाई को पाटने, उसके कारणों की मिमांसा करने तथा समाज में समता के प्रति चेतना जगाने का मानवतावादी कदम उठाया गया है। दलित साहित्य की वैचारिकी को केन्द्र में रखकर 'रघू' की अपनी बाजरे की रोटी के प्रति वितृष्णा का भाव जगना, संपन्न वर्ग के बच्चों द्वारा उसकी रोटी को घृणा से देखने की

प्रवृत्ति से उपतजी है। दो समाजों की आर्थिक स्थिति से उपजती अन्न और कदान्न की सोच एक गंभीर समस्या की ओर निर्देश करती हैं। अच्छे, स्वादिष्ट खाने की लालच में बालक रघू सहपाठी के लंचबॉक्स को चुराकर खा लेने से बहुत बड़ी सजा का हकदार बन जाता है। स्कूल से निकाल दिया जाता है। रघू के माता–पिता का बच्चे को पढ़ाने का सपना चूर–चूर हो जाता है। वर्चस्वादी समाज के अहंकारी वर्ग को एक बालक के मन में हो रही उथल–पुथल को जानने की जरूरत महसूस नहीं हुई क्योंकि उन्हें उनके बच्चों के संस्कारों पर बुरा असर होने से उन्हें बचाना अधिक महत्वपूर्ण लगा था। कहानी असंवेदनशील सवर्ण वर्ग के अहंकार, सत्ताधारी अमानवीय होने को उघाडकर समाज को सचेत करने की कोशिश है।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 9 गिद्धानुभूति

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 गुजराती दलित साहित्य का उद्‌भव एवं विकास

- 9.2.1 गुजराती दलित साहित्य के विकास में पत्र-पत्रिकाओं का योगदान
- 9.2.2 गुजराती दलित साहित्य का उद्‌भवः पृष्ठभूमि और वैचारिकी
- 9.2.3 डॉ आंबेडकर : दलित चेतना और साहित्य

9.3 दशरथ परमार : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

9.4 गिद्धानुभूति : एक नये नायकत्व का उद्‌भव

9.5 गिद्धानुभूति : वास्तविकता का एक दूसरा आईना

9.6 गिद्धानुभूति : कथावस्तु की गहराई और प्रतीकों का विश्लेषण

9.7 गिद्धानुभूति : शिल्प और भाषा

9.8 सारांश

9.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप गुजराती दलित कहानी 'गिद्धानुभूति' को पढ़ेंगे। इस कहानी के रचनाकार दशरथ परमार है । प्रस्तुत कहानी अपने कथानक, शिल्प एवं चेतना में अन्य दलित कहानियों में विशिष्ट स्थान रखती है। प्रस्तुत कहानी में दलित जीवन के विविध प्रसंगों के साथ-साथ भारतीय समाज व्यवस्था के अनेक बिम्ब दलित चेतना के साथ अभिव्यक्त हुए हैं।

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपः

- कहानी में अभिव्यक्त गुजराती समाज के भीतर व्याप्त वर्णव्यवस्था, उसके स्वरूप और प्रकृति को समझ पायेंगे;
- गुजराती भाषा में लिखे जा रहे गुजराती दलित साहित्य का विकासक्रम, उसकी चेतना और मूल्यों को देख पायेंगे;
- इस कहानी के अध्ययन से आप सहज ही अंदाजा लगा पायेंगे कि भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था का शोषणकारी स्वरूप और प्रकृति लगभग एकसमान है;
- शोषणकारी मूल्यों के खिलाफ विभिन्न भाषाओं में लिखे जा रहे दलित साहित्य का स्वरूप भी लगभग एक जैसा ही है; इसे समझ सकेंगे; उसके केन्द्र में वर्णव्यवस्था विरोध और दलित समुदाय की मुक्ति का स्वप्न है।

'गिद्धानुभूति' यह कहानी एक मिथकीय स्वरूप को ग्रहण किये हुए हैं। प्रस्तुत कहानी में गिद्ध शोषणकारी संस्थानों के प्रतीक के रूप में सामने आया है। प्रस्तुत कहानी अंत तक आते एक ऐसा यूटोपिया के रूप में बदल जाती है जो हमारे समाज का मूर्त रूप है। कहानीकार ने बहुत ही सशक्त रूप में कहानी की रचना की है। न केवल अपनी बनावट में बल्कि प्रस्तुति में भी सशक्त बन गयी है।

9.1 प्रस्तावना

आज समस्त भारत में दलित साहित्य ने अपनी एक अलग पहचान एवं जगह बनायी है। आज का दलित साहित्य भारत की लगभग सभी भाषाओं में लिखा जा रहा है। इसी में गुजराती भाषा में लिखे जा रहे दलित साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है। वर्तमान समय में गुजराती दलित साहित्य की एक सार्थक पहचान बन चुकी है। हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में अनुदित होकर इसने अपने पाठक वर्ग का विस्तार किया है। मराठी दलित साहित्य के संघर्षशील मूल्यों से प्रेरित होकर एवं बुद्ध, फूले, आंबेडकर की वैचारिकी को केन्द्र में रखकर उसने अपना विकास किया है। इसने गुजरात के तथाकथित मानवतावादी साहित्य के बरक्स वास्तविक मानवतावादी मूल्यों से लैस साहित्य का सृजना किया है। इसमें दलित समुदाय के उत्पीड़न की अभिव्यक्ति के साथ-साथ प्रतिरोधी चेतना की भी अभिव्यक्ति हुई है। यहाँ भी कविता ही प्रारंभिक दौर में भावों को अभिव्यक्त करने में माध्यम बनी है। तत्पश्चात् कहानी रेखाचित्र, उपन्यास, नाटक, निबंध और आत्मकथा द्वारा दलित समुदाय के कारूणिक एवं दारूण बिम्ब को अपने साहित्य में उकेरा है। दलित साहित्य ने गुजरात में एक महत्वपूर्ण दलित साहित्यकारों की पीढ़ी को तैयार किया है। एक महत्वपूर्ण पड़ाव को हासिल करते हुए गुजराती दलित साहित्य गुजरात में न केवल दलित समुदाय के भीतर जागरूकता फैलाने का कार्य कर रहा है बल्कि अबोलों की वाणी को शब्द बद्ध भी कर रहा है। गुजराती दलित साहित्य मराठी दलित साहित्य की तरह आंबेडकरवादी वैचारिकी को ही अपने मूल में रखकर विकास की ओर अग्रसर है।

9.2 गुजराती दलित साहित्य का उद्‌भव एवं विकास

वैसे तो दलित साहित्य की पड़चाप गुजराती भाषा में आजादी के पूर्व ही दिखायी देती है। किन्तु वह छिटपुट रचनाओं के रूप में ही है। उसमें आंबेडकरवादी चेतना न होने के कारण उसे दलित साहित्य की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता लेकिन उन्हें प्रारंभिक दौर की रचनाओं में शामिल तो करना ही पड़ेगा। अधिकांश विद्धानों ने 14 अप्रैल 1978 को प्रकाशित दलित पैंथर के मुखपत्र में प्रकाशित रचनाओं से ही दलित साहित्य का प्रादुर्भाव गुजराती दलित साहित्य में स्वीकार किया है। दलित पेंथर के इस पत्र का नाम 'आक्रोश' था और गुजरात में इसके उन्नायकों में डॉ. रमेशचन्द्र परमार थे। इसके अलावा नीरव पटेल, दलपत चौहाण, प्रवीण गढ़वी और योगेश देव, ये चार रचनाकार 'आक्रोश' के संपादक मंडल में थे या संपादक थे। 'आक्रोश' पत्र के संपादकीय में ही उद्‌घोषणा कर दी गयी थी कि- 'दलित अस्मिता मुहिम का यह प्रथम सोपान 'आक्रोश' कविता के माध्यम से व्यक्त होता है।' इसके अंतर्गत उनका मानना था कि 'आक्रोश' में मूक दलित समुदाय को वाणी मिलने लगी है। तत्पश्चात् प्रथम दलित साहित्य की पुस्तक के रूप में 1981 में प्रकाशित 'दलित कविता' थी। इसके रचनाकार संपादक गणपत परमार और मनीषी जानी थे। धीरे-धीरे जो चिंगारी 'आक्रोश' के माध्यम से आये व्यक्त हुई थी उसने आज विकराल रूप धारण कर लिया। वह अब प्रतिक्रियावादी मूल्यों को ध्वस्त करने के लिए दलित समुदाय का एक बड़ा हथियार बन गयी है। आज का गुजराती दलित साहित्य नये मानवीय मूल्यों को स्थापित करने की दिशा में अग्रसर है।

9.2.1 गुजराती दलित साहित्य के विकास में पत्र-पत्रिकाओं का योगदान

जिस प्रकार अन्य भारतीय भाषाओं में निकलने वाली पत्र-पत्रिकाओं ने दलित साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया था उसी प्रकार गुजरात में भी पत्र-पत्रिकाओं

ने गुजराती दलित साहित्य के विकास में सार्थक योगदान दिया। महाराष्ट्र में डॉ. आंबेडकर ने 'बहिष्कृत भारत', 'मूकनायक' एवं 'जनता' जैसी पत्रिकाएं निकालकर दलित समुदाय में आत्मसम्मान की भावना जागृत करने का कार्य किया था। गुजराती पत्र-पत्रिकाओं में 'पेथर' (नारायण वोरा) 'कालो सूरज', नवयुवक 'दलित गुजरात' (नान जी भाई आर्य) 'टंकार' (खेमचन्द्र चावड़ा) 'तमन्ना' (जयन्त सुबोध) 'स्वाति' (एल.जी.परमार) आदि पत्र-पत्रिकाएं उल्लेखनीय हैं। इसके अलावा अन्य पत्र-पत्रिकाओं में 'गरूड़' अजंपो, हरिजन बंधु, 'मुक्तिनायक' हयाती, दलित चेतना, नया सवेरा इत्यादि ने भी दलित चेतना एवं साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया।

किसी भी सामाजिक एवं साहित्यिक आंदोलन के प्रचार-प्रसार में पत्र-पत्रिकाओं की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। ये पत्र-पत्रिकाएं आंदोलन एवं वैचारिकी के मूल्यों का रचनात्मक रूपांतरण कर साहित्य में ढालती है। इसी रूप में दलित साहित्य उसी नई भावभूमि, सपनों और दलित समुदाय की चाहतों को अभिव्यक्त करता है और इसमें पत्र-पत्रिकाएं एवं सार्थक भूमिका निभाती हैं।

9.2.2 गुजराती दलित साहित्य का उद्‌भव : पृष्ठभूमि और वैचारिकी

गुजरात की धरती को वैसे गांधीजी की धरती के नाम से जाना जाता है। गुजरात के समाज, साहित्य और राजनीति पर गाँधी के दर्शन और विचारों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष दोनों ही रूपों में प्रभाव परिलक्षित होता है। इसलिए किसी भी प्रकार का सुधारवादी या परिवर्तनकारी आंदोलन हो वह गांधी के प्रभाव से पूरी तरह मुक्त दिखायी नहीं देता। शुरूआती दलित समुदाय के सुधारवादी आंदोलन में भी न केवल गुजरात में बल्कि गुजरात के बाहर भी गांधी के चिंतन का प्रभाव है। हालांकि डॉ. आंबेडकर के आगमन और आंदोलन के पश्चात यह प्रभाव थोड़ा कम जरूर हुआ। लेकिन दलित साहित्य का यह प्रारंभिक दौर गांधी जी के आंदोलन से प्रेरणा लेता रहा। लेकिन बाद में यह डॉ. आंबेडकर की वैचारिकी से ही फला-फूला। इस संबंध में रमणिका गुप्त का कहना है कि- "गुजरात की धरती में स्वामी दयानन्द से गांधी तक जातीय भेदभाव के खिलाफ मुहिम छेड़ने वाले समाज सुधारक पैदा हुए, जिन्होंने अस्पृश्यता के विरुद्ध राष्ट्रीय स्तर पर मुहिम चलायी। इसका प्रभाव गुजराती साहित्य और वहाँ के लोक साहित्य पर भी पड़ा। वह मुहिम वर्णव्यवस्था के दायरे में रहते हुए अस्पृश्यता का विरोध तो करती थी पर जातीयता को समूल नष्ट करके समानता, भाईचारे और आजादी का मुद्दा उसमें शामिल नहीं था। वह मुहिम धर्म से मुक्त नहीं थी। अपने वर्तमान स्वरूप में दलित चेतना का आंदोलन बाबा साहेब ने ही चलाया। (गुजराती साहित्य में दलित कलम संपा. रमणिका गुप्ता)। गांधी जी ने मानवीय मूल्यों की स्थापना का कार्य तो किया लेकिन उन मानवीय मूल्यों में दलित समाज की मुक्तिवादी मूल्य शामिल नहीं थे। वे अधूरे मानवीय मूल्य थे जिन्हें सही अर्थों में पूरा करने का श्रेय डॉ. आंबेडकर को जाता है। लेकिन इतना तो मानना ही पड़ेगा कि भारतीय एवं गुजराती जनमानस को दलित समुदाय के प्रति थोड़ा संवेदनशील बनाने का कार्य तो गांधी ने किया। लेकिन इसकी मुकम्मल तावीर को बनाने का सार्थक प्रयास डॉ. आंबेडकर का ही है।

9.2.3 डॉ. आंबेडकर : दलित चेतना और साहित्य

दलित साहित्य का आंदोलन हो चाहे दलित मुक्ति का, उसके केन्द्र में आंबेडकरवादी वैचारिकी को ही माना जाना चाहिए। आंबेडकरवादी वैचारिकी का निर्माण महात्मा बुद्ध, महात्मा ज्योतिबा फुले और डॉ. आंबेडकर के विचारों से मिलकर हुआ है। इसे ही हम आंबेडकरवादी सैद्धांतिकी या वैचारिकी कहा जा सकता है।

डॉ. आंबेडकर ने अपने आंदोलन में महात्मा बुद्ध और महात्मा ज्योतिबा फुले के कार्यों की न केवल सराहना की बल्कि उन्हें अपना गुरु मानते हुए उनसे लगातार ऊर्जा ग्रहण करते रहे। उन्होंने शोषित तबकों एवं हाशिएकृत समुदाय की मुक्ति के लिए लगातार आंदोलन किए चाहें वह दवदार तालाब का आंदोलन हो चाहे राजनीतिक रूप से वैचारिक संघर्ष। एक तरफ जहाँ उन्होंने दलित समुदाय के पढ़े-लिखे लोगों में एकता बनाए रखने एवं उनमें जागरूकता लाने के लिए 'बहिष्कृत भारत' मूकनायक, 'जनता' जैसी पत्रिकाओं को निकाला वहीं दलित समुदाय के सम्मान एवं गरिमा के प्रश्नों को ध्यान में रखते हुए लगातार आंदोलन करते रहे। उनके त्रासद अनुभवों को और कारुणिक पीड़ा को प्रकाशित भी करते रहे। सही मायने में कहा जाए तो बाबा साहेब आंबेडकर ने ही मानवता की बात की थी-"हमारे देश में उपेक्षितों और दलितों की एक बहुत बड़ी दुनिया है। इसे भूलना नहीं चाहिए। उनके दुःखों को, उनकी व्यथाओं को पहचानना जरूरी है अपने साहित्य के द्वारा उनके जीवन को उन्नत करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसी में सच्ची मानवता है।" (भारतीय दलित साहित्य का विद्रोही स्वर, सं. विमल थोरात, सूरत बड़त्या' से उद्धृत)।

बाबासाहेब के इन्हीं विचारों और कार्यों से प्रेरित होकर एक सामाजिक आंदोलन की नींव पड़ी और इसी सामाजिक आंदोलन से प्रेरण लेकर दलित साहित्य लेखन प्रारंभ हुआ। सामाजिक आंदोलन में जहाँ सामाजिक भेदभाव और शोषण के खिलाफ संघर्ष किया जा रहा था वहीं साहित्यिक स्तर पर तथाकथित सवर्ण साहित्य के समानान्तर अबोटों के कारुणिक अनुभवों, त्रासद जीवन संदर्भों को उद्घाटित किया गया था। दलित साहित्य ने सभी भाषाओं के तथाकथित साहित्य में अपने न होने का भी हिसाब मांगा है और साथ ही उसका विश्लेषण किया है और यह हो पाया है डॉ. आंबेडकर के प्रयासों और योगदानों से।

यहाँ पर यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि दलित साहित्य और आंदोलन के केन्द्र में आंबेडकरवादी सैद्धांतिकी ही है। इसके मूल्य ही हैं। कोई भी लेखक चाहे वह दलित हो या गैर-दलित, आंबेडकरवादी सैद्धांतिकी का विरोध करके या इनके मूल्यों को नकारकार खुद को दलित लेखक या दलित साहित्य मानने की भूल नहीं कह सकता। जिस प्रकार मार्क्सवादी वैचारिकी को नकार कर प्रगतिशील साहित्य (अवधारणा के रूप में देखें) का निर्माण नहीं कर सकता उसी प्रकार डॉ. आंबेडकर या आंबेडकरवादी सैद्धांतिकी को नकारकर दलित साहित्य नहीं लिखा जा सकता।

दलित साहित्य के भीतर अंतर्भूत जो मानवीय गरिमा, सम्मान मुक्ति, स्वप्न और चाहतों का आकाश है वह आंबेडकरवादी मूल्यों और प्रेरणा के बिना संभव नहीं है। दलित साहित्य में आए अनुभवों के बारे में कहा गया है कि-

"दलित साहित्य के भीतर अंतर्भूत जो मानवीय गरिमा, सम्मान मुक्ति, स्वप्न और चाहतों का आकाश है वह आंबेडकरवादी मूल्यों और प्रेरणा के बिना संभव नहीं है।'' दलित साहित्य में आए अनुभवों के बारे में कहा गया है कि-"दलित वर्ग के पास यातना और वेदना के अनुभवों का उफनता हुआ समुन्दर है। जीवन के किनारे को छूती हुई पीड़ा की कहानी है। इस विशिष्ट त्रासद अनुभवों की अभिव्यक्ति ने मानव जीवन के छिपे हुए सत्य को उजागर कर दिया।"

(भारतीय दलित साहित्य का विद्रोही स्वर : सं. विमल थोरात, सूरज बड़त्या)

दलित साहित्य का प्रारंभ महाराष्ट्र से ही माना जाना चाहिए। तत्पश्चात् वह अन्य राज्यों एवं भाषाओं में लिखा गया। लेकिन प्रेरणास्रोत मराठी का दलित साहित्य ही बना। इस तथ्य को नकारना ठीक वैसा ही होगा कि हम ये कहें कि दलित आंदोलन की शुरूआत महाराष्ट्र

से नहीं हुई थी या ये माने कि डॉ. आंबेडकर महाराष्ट्र के नहीं अपितु इलाहाबाद के या बनारस के थे। कुछ स्वयंभू आंदोलक हिन्दी से ही दलित साहित्य का प्रारंभ मानने की हताश जिद पर अडे हैं। वो ये भूल जाते हैं कि जब हम किसी धारा को आंदोलन या नाम देते हैं तो आंदोलन के पीछे एक सुनियोजित वैचारिकी होती है और जब हम महाराष्ट्र से दलित साहित्यिक और सामाजिक आंदोलन के शुरुआत थी तथ्यात्मक बात कह रहे हैं तो उसके पीछे बाबासाहेब आंबेडकर के विचार कार्य कर रहे थे। उनकी वैचारिकी से प्रेरित अन्य सामाजिक आंदोलन चल रहे थे। जिसमें 'दलित पेंथर' से लेकर दलित साहित्यिक आंदोलन भी था। इसलिए मैं यहाँ जोर देकर कहना चाहता हूँ कि दलित साहित्य का प्रारंभ महाराष्ट्र से ही हुआ और तत्पश्चात इसने अपना फैलाव अन्य भाषाओं में किया। वहीं से यह गुजराती दलित साहित्य का प्रेरणा स्रोत बना। गुजराती दलित साहित्य के केन्द्र में भी आंबेडकरवादी वैचारिकी और मूल्यों को समझा जाना चाहिए।

9.3 दशरथ परमार : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

दशरथ परमार का जन्म 1967 में गुजरात में हुआ। एम.ए., एम. काम तक शिक्षा। जीवन बीमा विभाग में गुजराती दलित साहित्य में दशरथ परमार एक महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय नाम है। इन्होंने दलित जीवन के विभिन्न कारुणिक अनुभवों और त्रासदपूर्ण जीवन सत्यों को अपने साहित्य में उल्लेखित किया है। इन्होंने अपने लेखन से दलित साहित्य को एक नयी दिशा दी है। दशरथ परमार का कहानी संग्रह 'पारखुं' 2001 में प्रकाशित हुआ और इसकी बहुत चर्चा हुई। किन्तु इससे पूर्व 'गिद्धानुभूति' कहानी ने इन्हें गुजरात में ही नहीं बल्कि देश के अन्य हिस्सों में बहुत प्रसिद्ध कर दिया था। इस कहानी ने मुक्तबोध की कविता 'अंधेरे में' की याद ताजा करा दी थी। इन्होंने भी एक प्रकार से इस कहानी में फैंटेसी बिम्बो का सृजन किया है। इसीलिए अपने कथ्य में इसने दलित कहानी को एक नया मुकाम दिया। 'गिद्धानुभूति' कहानी 'सर्वनाम' पत्रिका में सन 1991 प्रकाशित हुई। तत्पश्चात् हरिश मंगलम द्वारा संपादित 'गुजराती प्रतिनिधि दलित वासी' में भी यह 1996 में प्रकाशित हुई। विभिन्न भाषाओं में हुए अनुवाद ने दशरथ परमार को बहुत ही लोकप्रिय बनाया।

गुजराती दलित साहित्य को नये रूप में प्रयोगशील तरीके से अभिव्यक्त करने का श्रेय दशरथ परमार को जाता है यह अपनी कहानियों में प्रतीकों एवं बिम्बों का अधिक सहारा लेते हैं। इनकी अन्य महत्वपूर्ण कहानियों में जीवतर, छेह, जाता-पात, विच्छेद इत्यादि है। फिलहाल ये निरन्तर लेखन कार्य कर रहे हैं और कई-पत्र पत्रिकाओं से जुड़े हैं।

9.4 गिद्धानुभूति : एक नये नायकत्व का उद्‌भव

प्रस्तुत कहानी अपने प्रारंभ से ही एक नये नायकत्व की अवधारणा का उद्‌घाटन कर देती है। यह नायक कोई सामान्य जन नहीं है। वह आम दलित समुदाय का प्रतिनिधि भी नहीं है। वह चेतनाशील और जागरूक दलित है। जिसके पास एक दृष्टि है। दुनिया के शोषण कुचक्र और षड्यंत्रों को समझने की, उनका विश्लेषण करने की और उन्हें बेनकाब करने की। यह दृष्टि ही उसके लिए समस्या बन गयी है। यहाँ पर कहानी में दृष्टि और गिद्ध दो बड़े प्रतीकों के रूप में आये है जो कहानी के प्रारंभ से लेकर अंत तक एक दूसरे से लड़ रहे हैं। दृष्टि इसमें नये आधुनिक मूल्यों, प्रतियोगात्मक स्वरों और नये दलित नायक (मनुष्य) का प्रतीक है तो गिद्ध पारंपरिक मूल्यों, और ब्राह्मणवादी व्यवस्था को बचाये रखने वाले प्रहरी का प्रतीक है। इसीलिए ब्राह्मणवादी व्यवस्था को, वैचारिकी का रखवाला यह प्रहरी उस नये आधुनिक, चैतन्य दलित की दृष्टि को कर देना चाहते हैं। उसकी समाप्ति ही उनका लक्ष्य है। यह बात कहानी के प्रारंभ से ही स्पष्ट हो जाती है-

"अचानक मुझे लगा कि मेरी आँख में धूल झोंका जा रहा है अथवा किसी नुकीली खन्ती से गड्ढा खोदा जा रहा है——।

मैं थोड़ा सिहर उठा। आँख खोलकर देखा तो एक गिद्ध मेरी छाती पर अपने विशाल पंख फैलाकर चढ़ बैठा है। उसकी चोंच मेरी दाहिनी आँख में गड़ी हुई थी।" यहाँ पूरी तरह से स्पष्ट है कि ब्राह्मणवादी व्यवस्था का प्रहरी गिद्ध नायक के किसी अन्य शारीरिक हिस्से को अपनी चोंच से नष्ट नही कर रहा बल्कि वह आँखों को फोड़ना चाहता है। यहाँ आखें किसका प्रतीक हैं? यह उस नये दलित का प्रतीक हैं जो आंबेडकरवादी चेतना से लैस हैं। उसमें साहस है, वह प्रतिरोध करना जानता है। वह ब्राह्मणवादी षडयंत्रों को समझता है क्योंकि उसके पास दृष्टि है और इसे ही ब्राह्मणवादी व्यवस्था अपने लिए खतरा मान रही है। यह नायक अपनी इस दृष्टि को बचाने के लिए यहाँ से वहाँ भागता है। नायक को यह पूरी तरह पता है कि अगर उसकी आंखें खत्म कर दी गयीं तो उसके पास कुछ बचेगा नहीं। वह ज्ञान शून्य और चेतना शून्य हो जाएगा -

"मुझे लगा कि इसके बाद के क्षण में गिद्ध मेरी आँखों को एकदम कुतर खाएगा। फिर वहां आँख नहीं रहेंगी, गहरी खाई जैसा एक गड्ढा रह जाएगा।"

नायक अपनी आँख को बचाने के लिए लगातार भाग रहा है लेकिन साथ-साथ उसके सामने ऐसे-ऐसे दृश्य आते हैं जिसे वह स्वप्न में भी नहीं सोच सकता था। जो उसके स्वभाविक मित्र होने चाहिए थे वे उसे विरोधी खेमें में खड़े दिखाई देते हैं जैसे ब्राह्मणवादी व्यवस्था से मिल गए हों। जो उसकी शक्ति बनने चाहिए थे वे ब्राह्मणवादी व्यवस्था के मूल्यों की रक्षा कर रहे हैं। यहाँ मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे में' याद हो आती है जहाँ पर डाकू, हत्यारा, नेता, पत्रकार, साहित्यकार सभी एक साथ मिल जाते हैं। जो स्वाभाविक मित्र थे वे शत्रु के साथ खड़े हैं। ऐसे ही निराला की कविता 'राम की शक्तिपूजा' की पंक्ति याद आती है-"अन्याय जिधर है, उधर शक्ति इस कहानी में भी नायक देखता है कि 'कुत्ता' जो मनुष्य का स्वभाविक साथी है वह भी 'गिद्ध' के साथ मिल गया है-"दूर एक कुत्ता हड्डी चबाते हुए बैठा.....उसका मुँह लालमलाल है..... खून से रंगा हुआ।" नायक रास्ते में पड़ने वाली सभी चीजों का विश्लेषण करता जाता है। उसे रास्ते में नीम के नीचे अपने मौहल्ले के बुजुर्ग भी दिखायी नहीं देते। वह अपने उन बुजुर्गों से यह राज जानना चाहता है कि वर्षों से ये गिद्ध मेरे जैसे जागरूक मनुष्य के पीछे ही क्यों पड़े रहते हैं। हालांकि नायक यह भी जानता है कि वह अकेला नहीं बल्कि सब मारे जायेंगे। लेकिन यह सब समझते नहीं हैं। -

"वह मात्र मेरे अकेले के पीछे नहीं पड़ा, वह आज मुझे खत्म कर देगा....।

फिर बारी आएगी मेरे पिताजी की....मेरे भाई की.... बहन की, धीरे-धीरे वह पूरे मोहल्ले को कुतर खाएगा और एक दिन पूरे समाज को खत्म कर देगा..। हाँ, मैं उस गिद्ध को अच्छी तरह जानता हूँ....। वह एक दिन पूरे समाज को खत्म कर देगा....। वह कट्टर दुश्मन है हमारा.....हमारे समाज का....। वह हमें आगे नहीं आने देना चाहता।"

वह हमें आगे नहीं आने देना चाहता' यह वाक्य इस पूरी कहानी का केन्द्र बिन्दु लगता है। आखिर क्यों गिद्ध इस पूरे समुदाय के पीछे पड़ गया है? यहाँ पर यह स्पष्ट हो जाता है। सभी उसी से कहते हैं कि गिद्ध को मार डालो लेकिन कोई भी उसका साथ देना नहीं चाहता। वह इस प्रतिरोध में अकेला है। नायक के भीतर बहुत गहरा द्वंद्व और अवमाड घिर आता है। ब्राह्मणवादी व्यवस्था उसे खत्म कर देना चाहती है पर वह उसके खिलाफ अकेला संघर्ष करता है।

इस कहानी में नायक अपने मौहल्ले से होता हुआ गाँव के बीच में जा पहुँचता है। जहाँ मोहल्ले में भी कोई उसका साथ नहीं देता वहीं गाँव में लोग उसकी हंसी उड़ाते हैं। यहाँ पर वह बरगद के पेड़ के नीचे पहुँचता है। वहाँ पर उसे पेड़ से कव्वों की कांव-कांव सुनायी देती है।

"फिर तो मैं दौड़ते-दौड़ते गाँव के बाहर निकल आया। सामने के एक बरगद के नीचे आकर खड़ा हुआ। बरगद के सभी कौवे बार-बार उड़ने-बैठने लगे।"

फिर पुनः बरगद के साथ कौवे का वर्णन आया है -

"आँखे खोलकर देखा, घना अंधकार.....। सामने के बरगद पर कौवे फिर से बोलने लगे.... बगल में श्मशान का एक कुत्ता कुछ सूँघ रहा था।"

यहाँ पर बरगद का पेड़ कौवा एक विशेष वैचारिक प्रतीक के रूप में आये हैं। जिसका विश्लेषण हम आगे करेंगे। नायक फिर मन्दिर में जाकर छिप जाता है। किन्तु गिद्ध वहां भी उसका पीछा नहीं छोड़ते। वह मन्दिर में देवी की तस्वीर के पीछे छिप जाता है। किन्तु गिद्ध वहाँ भी जा पहुँचते हैं। यहाँ पर फिर से नायक मन्दिर प्रवेश का विश्लेषण करता है। चूँकि दलित समुदाय को मन्दिर में जाने की इजाजत नहीं होती। उनके जाने से वह जगह अपवित्र हो जाएगी। इसीलिए वह इसकी सजा भी भुगतता है। फिर वह शहर की तरफ भागता है। यहाँ पर बीच-बीच में दो महत्वपूर्ण बातें हैं जो कि लेखक नायक के द्वारा कहलवाता है। दलित समुदाय किसी भी धर्म में चला जाए लेकिन जाति उसका पीछा नहीं छोड़ती। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह कि वह अछूत है, यहाँ उसकी पहचान है। वह लाख अपने को हिन्दू मानें लेकिन हिन्दू जाति के लोग उसे अछूत ही मानते हैं -

"एक गिद्ध ने दूसरे गिद्ध से पूछाः कौन है यह आदमी?

दूसरे ने कहाः यह हिन्दू है.....।

फिर तीसरे ने कहाः नहीं यह हिन्दू नहीं है..... यह हिन्दू नहीं हो सकता। फिर कौन है यह हरामखोर....? एक गिद्ध ने प्रश्न किया। पीछे से एक नन्हा गिद्ध दौड़ते हुए आया और जोर से कहने लगाः यह डोम है।"

यानी की तथाकथित सवर्ण समुदाय का छोटा सा बच्चा भी दलित समुदाय की उसी रूप में पहचान समझता है। बचपन से ही उसे सिखा दिया जाता है कि सामाजिक व्यवस्था कैसी है? यहाँ पर कौन नीच है और कौन श्रेष्ठ। इसीलिए बच्चा बड़ा होकर उन सिखायी मूल्य-मान्यताओं को न केवल ढोता है बल्कि उनकी रक्षा भी करता है।

पूरी कहानी में रचनाकार ब्राह्मणवादी वैचारिकी के गहन प्रतीकों का प्रयोग करके नायक द्वारा उनका विश्लेषण कराता है। यह नया नायक दलित समुदाय की मुक्ति का वाहक है जिसके पास ब्राह्मणवादी व्यवस्था को जांचने-परखने के नये औजार हैं। कहानी पुनः आगे बढ़ती है और नायक को याद आता है कि किसी ने कहा था गांव छोड़कर शहर की तरफ जाओ। वह शहर में पहुँच जाता है। लेकिन शहर में भी उसका सामना जातिवादी मूल्यों के वाहकों से होता है। गिद्ध उसका पीछा करते-करते शहर में भी आ जाते हैं। गिद्ध आकर चौकीदार से बात करते हैं और नायक देखता है कि चौकीदार भी गिद्ध में बदल गया है। यानी कि गाँव हो या शहर हर जगह जाति का सामना करना ही पड़ेगा। जातिवादी लोग हर जगह वेश बदलकर रह रहे हैं। उसका शहर आने का भ्रम जल्दी ही दूर जाता है। फिर वह वहां से भागता है उसे प्यास लगी है वह एक झरोखे से झांकती .... से पानी पिलाने को कहता है। किन्तु वह उसका मजाक बनाकर हंसती है। यहां भी रचनाकार ने दिखाया है कि जो स्त्री स्वयं पुरुषवादी नखदंतो के हाथों कुचली जा रही है। और पुरुषवाद का

पोषक यही ब्राह्मणवादी व्यवस्था है जिसके द्वारा दलित समुदाय भी शोषित है। यानी ये स्त्री एवं दलित की स्वभाविक मित्रता होनी चाहिए थी। मुक्ति के रास्ते दोनों के लगभग समान हैं लेकिन स्त्री समुदाय भी आज ब्राह्मणवादी वैचारिकी के षड्यंत्रों में फंसकर दलित समुदाय का विरोध कर रही है और उसका मखौल उड़ाती है। वह आगे गया वहाँ चाय वाले ने भी उसे दुत्कार कर भगा दिया। यहाँ भी रचनाकार यह दिखाना चाहता है कि वर्गीय स्थिति में चाय वाले की स्थिति एक जैसी ही हैं लेकिन सामाजिक जाति भिन्नता के कारण चाय वाला भी उसे दुत्कार कर भगा देता है। वह आगे जाकर एक सार्वजनिक नल से पानी पीना चाहता है लेकिन.....

"एक व्यक्ति की नजर मुझ पर पड़ी। वह चौंका, फिर क्रोधित स्वर में बोला, ए...तेरे लिए यह नल नहीं लगाया गया.....भाग.....पीना हो तो उस गटर में जाकर पी।"

जहाँ देखो वहीं जाति के राक्षस। उसे चारों ओर से, सभी दिशाओं से गिद्धों के झुंड अपनी ओर आते दिखते हैं। सभी के हाथों में पुरातन और आधुनिक दोनों प्रकार के हथियार हैं। वह पुनः भागता है रास्ते में उसे एक साधु मिलता है। उस साधु को जब यह पता चलता है कि वह अस्पृश्य है और उसे शहर में गिद्धों को मार डाला तो वह साधु कहता है- "तू कौन है बच्चा?" साधु ने मेरी आँखों में आँखे डालकर पूछा। मैंने धीरे बताया, हिन्दू.....।"

"दिखावे से तो हिन्दू नहीं लगता.....कौन है? सच-सच बता दे, तेरा कल्याण कर दूँगा मैं....।

महाराज.....। मैं हिन्दू ही हूँ।"

.....समझ गया.....तू अस्पृश्य है.....लेकिन तूने बहुत हत्याएं की हैं.....ये अच्छा नहीं किया तूने.....ये गिद्ध तुझे किसी जन्म में नहीं छोड़ेंगे।"

वह पुनः भागता है और रास्ते में उसे पुलिसवाला मिलता है। वह उसे बताता है लेकिन गिद्ध वहाँ आ पहुँचते हैं और पुलिस वाले को कुछ रूपये देकर खरीद लेते हैं। जब वह पुनः पुलिस वाले से अपने को बचाने को कहता है तो पुलिस वाला कहता है.....

"जिओ या मरो.... क्या फर्क पड़ता है? बेकार में समाज में गंदगी फैला रहे हो.....तुम्हें तो मरना ही चाहिए।"

अंततः नायक बरगद के नीचे पहुंचता है जहाँ उसे ज्ञान होता है कि जहाँ वह रहता है वहीं से उसे इन शोषणकारी संस्थानों के खिलाफ संघर्ष करना होगा। दिन भर का थका हारा वह खटिये पर सो जाता है और पुनः गिद्ध उसकी आंखे फोड़ने के लिए उसकी छाती पर चढ़ जाता है।

यह एक प्रकार से नये कन्या प्रतीकों के माध्यम से नये दलित नायकत्व की अवधारणा को सामने रखता है। जहाँ नायक भरपूर चेतना से लैस हैं। वह सभी शोषण के तंत्रों को समझता है, सबका विश्लेषण करता है लेकिन वह अकेला है। उसके साथ आम जानवर की ताकत नहीं है। कभी-कभी वह निराश और हताश भी होता है, डर भी जाता है। लेकिन अंत तक आते-आते उसे यह बोध तो हो ही जाता है कि संघर्ष तो जहाँ वह रहता है वहीं से जाना होगा।

9.5 गिद्धानुभूति : वास्तविकता का एक दूसरा आईना

डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर ने कहा था कि- 'किसी भी दिशा में मुड़ें, जाति का राक्षस रास्ता रोके खड़ा मिलेगा। इसे मारे बिना न तो सामाजिक मुक्ति संभव है न आर्थिक' दशरथ

परमार की यह कहानी भारतीय समाज के उसी सच को सामने रखती है। आप कहीं भी चले जायें लेकिन जाति हर जगह आपके साथ-साथ चलती रहती है। गांव में, शहर में, सब जगह वह कायम है। उसका क्रूर रूप कहीं छिपे रूप में सामने आता है तो कहीं रूप बदलकर। जाति व्यवस्था एक ऐसा संस्थान है जिसे नष्ट किए बिना यह समाप्त नहीं हो सकती। हर कोई इसका शिकार है। हर कोई इसका रक्षक है।

दलित साहित्य की यह एक प्रमुख विशेषता है कि उसने भारतीय समाज की उस क्रूर वास्तविकता को अभियक्त कर दिया है जो भारतीय साहित्य में लगभग नदारद था। तथाकथित सवर्ण साहित्य में 'सत्यम शिम सुन्दरम' की आनन्दमयी अवधारणा के बरकस दलित साहित्य ने अपने क्रूरतम अनुभवों, जीवन संदर्भों, अपमान, अछूतपन के दंश, और अपने इंसान न हो सकने के दर्द को इस साहित्य में प्रमुखता से रखा है।

यहाँ तथाकथित शुचिता एवं नैतिकता के बरकस कूड़े के ढेर पर खेलते बचपन का सच, गोमूत्र के समानान्तर सूअर की ढों-ढों हैं, ध्वनि कराते पुरोहितों के दृश्यबिम्ब के समानान्तर मैला उठाती दलित नारी के श्रम का गान है। यहाँ प्रेमचन्द का वह होरी है जिसने स्वयं अपनी कथा को लिखना सीख लिया है। यह वास्तविकता का एक ऐसा आइना है जो इससे पूर्व साहित्य में बिल्कुल ही नदारद रहा।

गिद्धानुभूति कहानी अपने प्रारंभिक संवादों से ही दो प्रकार की दुनिया, संवेदना और वास्तविकता को प्रतीक के द्वारा अभिव्यक्त करती है। एक तरफ गिद्धों की दुनिया है जो समाज में बहुत गहरे में स्थापित है। इस स्थापित दुनिया के अपने मूल्य हैं, और उन्हीं का वर्चस्व है। ऐसे में हाशियाकृत दुनिया से आया हुआ एक जागरूक इंसान इस स्थापित दुनिया के षडयंत्रों को पहचान लेता है बस संकट यहीं से शुरू होता है कि उसके पास एक नजरिया डेवलप हो गया । गिद्ध साम्राज्य के लिए यह नजरिया ही खतरनाक है। उन्हें डर है कि अगर यह नजरिया अन्य लोगों को भी मिल गया तो उनका साम्राज्य ढह सकता है। इसलिए गिद्ध उस जागरूक इंसान की आँखे फोड़ देना चाहते हैं -

"अचानक मुझे लगा कि मेरी आँख में धूल झोंका जा रहा है....।"

दलित साहित्य ने यह बताया है कि भारत में एक बड़े समाज की एक अलग ही दुनिया है। और उस दुनिया की वास्तविकता बहुत ही अलग है। दलित समुदाय जो एक तरफ समाज के विकास में अपने श्रम द्वारा एक बड़ी महती भूमिका निभाता है लेकिन फिर भी उसे समाज में एक इंसान के रूप में भी मान्यता नहीं है। इंसान के रूप में मानवीय गरिमा और समानता तो बहुत ही दूर की चीज हैं। दशरथ परमार ने उसी वास्तविकता का उद्‌घाटन किया है।

पुलिस वाला गरजा, "एसाला...तुम लोग जिओ या मरो.....क्या फर्क पड़ता है? बेकार में समाज में गन्दगी फैला रहे हो....तुम्हें तो मारना ही चाहिए।"

भारतीय समाज की यह है मानसिकता। दलित समुदाय उनके लिए समाज में गंदगी से ज्यादा कुछ नहीं। यह एक सच है। लेकिन दूसरा सच यह भी है कि वे इस गंदगी को हटाना भी नहीं चाहते। क्योंकि अगर यह दलित रूपी गंदगी नहीं होगी तो उनके कार्य कौन करेगा? क्योंकि यही दलित वर्ग उनके सारे अच्छे और बुरे मेहनत वाले कार्य भी तो करता है। गिद्धानुभूति कहानी में एक स्थान पर आया है जब नायक मंदिर में प्रवेश कर उसे अपवित्र कर देता है तो वह सोचता है -

"मैंने कहा, मन्दिर पर केवल तुम्हारे गिद्धों का अधिकार नहीं है और न ही माता तुम्हारे अकेले की है, फिर तो बस फतह हो गई। उसने एक चीख मारकर कहा, तुझे माता से

क्या काम? उसने लात मारी। मैं फिर से अड़तीस सीढ़ियों से नीचे गिरा। मुझे अचानक माता के प्रति नफरत हो गई....यह मन्दिर बन रहा था, तब मेरी माँ ने इसमें काम किया था, उस समय माता अस्पृश्य नहीं होती थी और अब? ऐसी माता को मानो या न मानो क्या फर्क पड़ता है? यह वास्तविकता का वह आईना है जो समाज की दूसरी ही तस्वीर दिखाता है। मन्दिर बनने की प्रक्रिया में, निर्माण में उन्हें मजदूर चाहिए। यह मजदूर चाहे दलित हो या सवर्ण उन्हें फर्क नहीं पड़ता। तब गारा बनाते हुए ईंट उठाते हुए, चिनाई भरते हुए कुछ भी अपवित्र नहीं होता। जिन्हें वे लोग गन्दी, अछूत, अंत्यज, कहकर गाली देते हैं, वहीं उनके काम भी करते हैं। उन्हें पता होता है कि मन्दिर के निर्माण के पश्चात् उस दलित समुदाय को उसमें घुसने भी नहीं दिय जाएगा लेकिन वे पूरी लगन और मेहनत से बिना मजदूरी लिए काम करते हैं। कैसा द्वन्द्व चलता होगा उनके भीतर। कितनी पीड़ा होगी गयी उस दलित समुदाय को। क्या तथाकथित सवर्ण साहित्य मूल द्वन्द्व और भावनाओं को अभिव्यक्त कर पाया? इसीलिए दलित साहित्य ने आज अपने सच को, दर्द को, यातना को अपने शब्दों में अपने साहित्य में अभिव्यक्त करना शुरू किया है। दशरथ परमार ने इस कहानी में उसी वास्तविकता को न केवल सशक्त रूप से अभिव्यक्त किया है बल्कि गहराई से उसकी जाँच-पड़ताल भी की है।

9.6 गिद्धानुभूति : कथावस्तु की गहराई और प्रतीकों का विश्लेषण

प्रस्तुत कहानी बहुत ही महत्वपूर्ण और सशक्त कथानक को अपने भीतर समेटे हुए है। इसमें जितनी अधिक व्यपकता है उतनी ही अधिक गहराई है। नामवर सिंह ने किसी कहानीकार को मापने के लिए दो महत्वपूर्ण मापन औजार शब्द बताए हैं जिसमें एक है व्यापकता और दूसरा है गहराई। इसे उन्होंने प्रेमचन्द के संदर्भ में कहा है। अगर इसे हम दशरथ परमार की इस कहानी के संदर्भ में भी देखें तो गिद्धानुभूति अपनी व्यापकता में बहुत सारे प्रश्नों को बहुत ही गहराई के साथ उठाते हैं। कहानीकार ने इस कहानी में ब्राह्मणवादी वैचारिकी को बनाये रखने के लिए जिन-जिन चीजों का सहारा लिया है उसे बहुत ही सशक्त रूप में कहानी में अभिव्यक्त किया है। कहीं पर भी वह दलितवाद का नारा नहीं लगाती, कहीं भी महात्मा बुद्ध का या डॉ. आंबेडकर का नाम नहीं है, कहीं भी ब्राह्मणवाद जैसे शब्दों का प्रयोग नहीं है लेकिन सभी कुछ प्रतीकों के रूप में कहानी के भीतर मौजूद है। मौजूद ही नहीं है बल्कि अंतर्भूत हैं।

आइये, अब इन प्रतीकों को जरा यहाँ पर समझने की कोशिश करते हैं। यहाँ पर पूरी कहानी में हम जहाँ भी जाते हैं 'गिद्ध' प्रायः साथ-साथ चलते हैं। कहीं पर एक गिद्ध है, कहीं पर दो, कहीं पर तीन हैं और कहीं पर गिद्धों का झुंड। रचनाकार ने बहुत ही सीधे रूप में सन्दर्भानुसार गिद्धों की संख्या को विस्तार दिया है। लेकिन आखिर यह गिद्ध है क्या? वह क्यों कहानी के नाटक की आँख को ही फोड़ना चाहता है? शरीर में तो बहुत सारे अंग है जिन्हें चाहे तो गिद्ध, खाकर अपना पेट भर सकता था। लेकिन कहानी के प्रारंभ में भी वह आँख ही फोड़ना चाहता है और कहानी की समाप्ति में भी पुनः आँख फोड़ने के लिए आ पहुँचता है। गिद्ध इस कहानी में जैसा कि हम पहले बता आये हैं कि ब्राह्मणवादी मूल्य-मान्यताओं, परंपराओं को मानने वाले का प्रतीक है, उसका प्रहरी है या फिर ब्राह्मणवादी व्यवस्था है और वह उस मनुष्य की आँख फोड़ना चाहती है जिसके पास ब्राह्मणवादी व्यवस्था के कुचक्रों और षड्यंत्रों को पहचानने की दृष्टि है। इसलिए कहानी के प्रारंभ से ही गिद्धरूपी ब्राह्मणवादी व्यवस्था और आधुनिक दृष्टिकोण वाले दलित के बीच संघर्ष शुभ होता है। यहाँ पर यह बात गौरतलब है कि अपने दृष्टकोण के बचाव में यह नायक न केवल बचाव करता है बल्कि अपनी मुक्ति की छटपटाहट के साथ तमाम

शोषणकारी प्रतीकों की पहचान करता है, बल्कि सहभागियों को भी प्रतीकों के द्वारा चित्रित करता है और समाज में अपने स्वाभाविक सहयोगियों के साथ न आने पर उन पर भी व्यंग्य करने से नहीं चूकता।

कहानी में बरगद का पेड़ और कौवे की चर्चा दो बार हुई है। पहली बार जब वह अपने बचाव में गाँव के बाहर निकलकर आता है तो वह -

"सामने के एक बरगद के नीचे आकर खड़ा हुआ। बरगद के सभी कौवे बार-बार उठने बैठने लगे। एक कौआ मेरे सिर पर चिरक गया।"

जब वह शहर के गिद्धों को मारकर पुनः गांव की तरफ लौटता है तो फिर बरगद के नीचे जा पहुँचता है। यहाँ बरगद क्यों आया है। हमें यह याद रखना चाहिए कि पाठ के प्रारंभ में ही हमने बताया था कि दलित साहित्य के केन्द्र में आंबेडकरवादी वैचारिकी है और आंबेडकरवादी वैचारिकी का निर्माण महात्मा बुद्ध, महात्मा फुले और आंबेडकर के विचारों से मिलकर हुआ है। ऐसा माना जाता है कि महात्मा बुद्ध को सत्य का ज्ञान बरगद के पेड़ के नीचे ही हुआ था। इसीलिए मुक्ति के लिए छटपटाता, ज्ञान की खोज में, ऊर्जा के लिए नायक बार-बार बरगद के रूप में महात्मा बुद्ध के पास जाता है लेकिन वहाँ भी देखता है कि कौवे रूपी हिन्दू धर्म के संस्कार अपनी जड़ जमाये हुए हैं। यहाँ कहानीकार ने छद्म बौद्धों पर भी व्यंग्य किया है। लेकिन दूसरी बार जब वह बरगद के नीचे जाता है तो वहीं से उसे रास्ते का भी बोध होता है।

कहानी में कुत्ते का भी दो बार आना एक विशेष अर्थ को ध्वनित करता है। कुत्ता तो मनुष्य का स्वाभाविक, वफादार सहयोगी है। घर में, समाज में और मोहल्ले में वह ईमानदारी से मनुष्य का साथ देता है। लेकिन धीरे-धीरे वह अन्यायी की तरफ चला गया। कहानी में आया हैः-

"मोहल्ला पूरा श्मशानवत। नीम के नीचे कोई नहीं। दूर एक कुत्ता हड्डी चबाते हुए बैग.....उसका मुँह लालमलाल है.....खून से रंगा हुआ?

यानी कि उधर गिद्ध की चोंच खून से रंगी हुई है और उधर कुत्ते का मुँह भी खून से रंगा गया है। क्या मतलब है दोनों का। क्या दोनों में कोई समानता है? अर्थ स्पष्ट है कि अब कुत्ता भी इस ब्राह्मणवादी वैचारिकी को, व्यवस्था को बचाये रखने के लिए गिद्ध का सहयोगी हो गया है। कहानी जैसे-जैसे आगे बढ़ती है इसमें अधिक व्यापक संदर्भ और गहराई भी बढ़ती जाती है। कहानीकार ने शहर को ईटों की चारदीवारी में कैद बताया है जिस के सभी गेटों पर एक चौकीदार रहता है और वह शहर किलेनुमा है। शहर की वास्तविकता पर आधुनिकता पर गहरा व्यंग्य है जब कहा जाता है कि शहर में तो किसी भी प्रकार से जाति व्यवस्था नहीं हैं। वहाँ सब समान है। कहानीकार ने दिखाया है कि शहरनुमा किले का चौकीदार भी ब्राह्मणवादी व्यवस्था का ही नुमाइंदा है जिसने शहर के अनुसार अपना रूप बदल लिया है। और शहर जो है वह ब्राह्मणवादी व्यवस्था का मजबूत किला बन गया है जिसे भेदना अब बहुत ही मुश्किल है-

"दूर से शहर का किला दिखायी दिया".....

"विशाल किला..... लाल ईटों से चुना गया.....किले के पास एक चौकीदार टेबल पर झोंका खा रहा था.....।"

तत्पश्चात कहानीकार ने शहर की भीतरी संरचना और जटिलता का भी वर्णन किया है। इससे स्पष्ट होता है कि यह शहर की जातिवर्ण व्यवस्था कितनी मजबूत हो गयी हैः -

"फिर तो गली में गली और गली में गली.....नगर की ऐसी अटपटी रचना देखकर मुझे आश्चर्य हुआ।"

कहानी में आगे विस्तारपूर्वक मन्दिर का वर्णन है। यह प्रतीकात्मक है किन्तु अर्थसंदर्भ बहुत ही गहरा एवं मार्मिक है। जिन दलितों को सदियों से मन्दिर के बाहर ही बिठाये रखा है। धर्म के नाम पर ही सारे अत्याचारों के कुचक्रों की संरचना बनायी गयी है। जो देवी और धार्मिक मठ

उसके शोषण की स्थली है वहीं पर वह अपनी रक्षा के लिए जाता है। एक एक प्रकार से उन दलितों पर भी व्यंग्य है जो आज भी ब्राह्मणवादी व्यवस्था में बिताते हुए, उन्हीं की मूल्य-मान्यताओं को अपना रहे हैं। कुछ देवियों को दलितों एवं .... की देवी कहकर खूब प्रचारित किया जाता है। क्योंकि उन देवियों पर .....दी जाती है। लेकिन यहाँ कहानीकार बताता है कि यह सब धार्मिक ढोंग है और अंततः वह पूरी तरह से इस संस्थान को तिलांजली दे देता है-"

मुझे अचानक माता के प्रति नफरत हो आई.....यह मन्दिर बन रहा था, तब मेरी माँ ने इसमें काम किया था, उस समय माता अस्पृश्य नहीं होती थीं और अब? ऐसी माता को मानो या न मानो क्या फर्क पड़ता है?

क्या जाने कैसे मुझे शक्ति का संचार हुआ। मैं दौड़कर मूर्ति के पास पहुँच गया.... उस समय गिद्ध आँखें बन्द कर कोई मंत्र पढ़ रहा था। मैं ठीक मूर्ति पर जा बैठा। फिर धीरे से कुत्ते की तरह एक पैर ऊँचा किया। पैंट का बटन खोला, और मूत दिया कुत्ते पर....।

एक प्रकार से यह उस मन्दिरनुमा धार्मिक संस्थान को तिलांजली है जो शोषणकर्ता की शरणस्थली है लेकिन दलित समुदाय अभी भी उससे भय खाते हैं।

कहानी में ऐसे बहुत से प्रश्न हैं जो व्यापक अर्थ संदर्भों को अभिव्यक्त करते हैं। जैसे धर्मांतरण का प्रश्न भी कहानी में आया है जिसमें कहानीकार स्पष्ट रूप से बताता है कि धर्मांतरण दलित के सम्मान और गरिमा में कोई परिवर्तन नहीं करता। वह किसी भी धर्म में चला जाए लेकिन वहाँ भी वह अपमान और अछूत होने या दंश तो सहता ही है। इसी प्रकार साधु के माध्यम से भी यह कहलावा दिया गया है कि एक तो वह हेमू नहीं है और दूसरा उसे अपनी मुक्ति के लिए हिंसा का रास्ता नहीं अपनाना चाहिए। यदि वह ऐसा करता है तो कई जन्मों तक गिद्धों का सम्मान करना पड़ेगा। जब गिद्धों से बचता हुआ नायक सिपाही को अपनी व्यथा कहता है तो सिपाही को गिद्ध आकार कुछ रुपये देता है और तुरंत ही सिपाही भी गिद्धों की भाषा बोलने लगता है। यानी की जहाँ से न्याय की उम्मीद थी वह भी ब्राह्मणवादी वैचारिकी के साथ मिल गयी है। एक प्रकार से यह समूची न्याय प्रणाली पर व्यंग्य किया गया है।

इस पूरी कहानी की बनावट में कहानीकार ने प्रतीकात्मक रूप से ऐसे बहुत से प्रश्नों को उठाया है और न केवल उठाया है बल्कि उनका विश्लेषण भी किया है। कहानीकार दो तरफा व्यंग्य और विश्लेषण करते हैं। वह ब्राह्मणवादी शोषणकारी तंत्र का विश्लेषण और व्यंग्य करते हैं तो दूसरी तरफ दलित समुदाय के अंधविश्वासों पर भी प्रहार करने से नहीं चूकते।

9.7 गिद्धानुभूति : शिल्प और भाषा

दलित साहित्य पर लगातार यह आरोप लगाए जाते रहे हैं कि इसमें कलात्मक सौन्दर्य विधान नहीं है। सिर्फ कथ्य की गहराई है। न तो इसमें भाषागत चारूता है और न ही वाक्य

विन्यास की ऊँचाई। हालांकि दलित साहित्यकारों एवं आलोचकों ने अपने-अपने विचारों के माध्यम से इसका जवाब देने की कोशिश की है। यहाँ हम दशरथ परमार की इस कहानी को केन्द्र में रखकर इस प्रश्न का जवाब तलाशने की कोशिश करते है कि क्या सच में दलित साहित्य पर जो आरोप लगाये जाते रहे हैं क्या वह उचित हैं या फिर किसी न किसी रूप में कहानी में आये गिद्ध यहाँ प्रगतिशील आलोचक का रूप बदलकर प्रगतिशील का चोला ओढ़े हैं। अमल में तो किसी न किसी रूप में उनके भीतर भी "गिद्धानुभूति' बैठी हुई है।

प्रश्न तो सबसे पहले यह उठाया जाना चाहिए कि ये तथाकथित प्रगतिशील सवर्ण आलोचक किस प्रकार की कलात्मकता और सौन्दर्य विधान की तलाश दलित साहित्य में करना चाहते हैं। यदि वे साहित्य के पारंपरिक औजारों के आधार पर इसमें कलात्मक ऊँचाई देखने की कोशिश करेंगे तो उनमें अनुरोध है कि वे ऐसा न करें। इसमें उन्हें निराशा ही हाथ लगेगी। क्योंकि जब यहाँ पर कथावस्तु में वास्तविकता का एक दूसरा आईना है, तो उसके लिए भाषा भी अलग होगी। उसमें एक ऐसी अनगढ़ता की खानगी होगी जिसमें कबीर का 'याखा बहता नीर' है। वहाँ वे अलंकार पारंपरिक बिंब और सुगढ़, सौन्दर्यात्मक भाषा की तलाश न करें। चूँकि दलित साहित्य में तल्ख जीवन के ऐसे कारुणिक बिंब और दृश्य विधान है कि तथाकथित सवर्ण आलोचकों को मुँह पर रूमाल रखना पड़ सकता है। यहाँ पर पारंपरिक साहित्य की वह पावन-पवित्र, सुचितावाडी धरती नहीं दिखेगी और न ही मन्दिर की घंटियों के साथ हवन की ज्वालाएं प्रकट होंगी। दलित साहित्य ने इन्हें बेदखल कर दिया है। उन्होंने अपने क्रोध और प्रतिरोध की लपटों में इन्हें भस्म कर दिया है। दलित साहित्य ने अपने साहित्य के माध्यम से एक ऐसे वैकल्पिक सांस्कृतिक-साहित्यिक मूल्यों की स्थापना की है जो वास्तविक रूप में मानवीय मूल्य कहे जाने योग्य है। यहाँ धर्म का पाखंड नहीं है बल्कि धर्म की तिलांजली देकर गिद्धानुभूति कहानी में उसका मर्सिया गा लिया है-

"क्या जाने कैसे मुझमें शक्ति का संचार हुआ। मैं दौड़कर मूर्ति के पास पहुँच गया.....। मैं ठीक मूर्ति पर जा बैठा। फिर धीरे से कुत्ते की तरह एक पैर ऊँचा किया। पैंट का बटन खोला, और फिर.....

यह कैसा दृश्य विधान है? क्या इतनी हिम्मत थी किसी गैर-दलित लेखक में कि वह ऐसा दृश्य बिम्ब रच पाये? यह आत्मिक बल से आता है और आत्मिक बल के लिए अपने लोगों की मुक्ति का स्वप्न बल देता है। ऐसे दृश्य विधान और बिंब ही दलित साहित्य की ताकत हैं। दलित साहित्य ने दलित समुदाय के शोषण के तंत्रों को पहचान लिया है। इस अर्थ में मैं फिर दोहरा दूँ कि पारंपारिक सौन्दर्य अनुसंधान कर्त्ता को यहाँ हर बार निराशा ही हाथ लगेगी।

दशरथ परमार ने अपनी इस कहानी में एक प्रकार की फ्रैंटेसी और मिथकों का सहारा लिया है वह अद्‌भुत है। लेखक जानता है कि वह गिद्ध कौन है। वह यह भी पहचानता है कि गिद्धों की मंशा क्या है। तभी तो वह कहता है- हाँ मैं उस गिद्ध को अच्छी तरह जानता हूँ। वह कट्टर दुश्मन है हमारा.... हमारे समाज का। वह हमें आगे नहीं आने देना चाहता। इस पंक्ति को पुनः मैं यहाँ दोहराता हूँ- 'वह हमें आगे नहीं आने देना चाहता'। यह इस कहानी का निचोड़ है। सारे षडयन्त्र और कुचक्र इसीलिए रचे जा रहे हैं कि दासों ने अपनी मुक्ति का बिगुल बजा दिया है। उन्होंने दास्ता से इन्कार करके अपने इंसानी हकों का घोषणा-पत्र गिद्धों के सामने रख दिया है। गिद्ध यह सब कैसे बर्दाश्त करें। इसीलिए वे सबसे पहले उस आदमी को निशाना बनाते हैं जिसके पास मुक्ति का स्वप्न, चाहतें और दस्तावेज हैं। इसीलिए गिद्ध उस आदमी की आँख फोड़ देना चाहते हैं।

कहानी में 'आखें' (नजरिये) और गिद्ध (शोषणकारी वर्ग) का जो प्रतीक रखा है क्या वह अद्भुत और बड़ा नहीं है। इसे आप कहीं भी, किसी भी समाज के शोषक और शोषित तबकों के साथ मिलान करके रख दीजिए। फिर देखिये ये कैसे वहाँ पर पूरी तरह फिट हो जाते हैं। यह कहानी केवल ऐसे प्रतीकों का ही निर्माण नहीं करती बल्कि एक स्वप्न बिम्ब भी रचती है। जब कहानी का नायक अपनी आँखों को बचाते हुए मन्दिर के पास पहुँचता है तो उसके मन में अजीब से विचार आते हैं। वह जानता है कि यह वही मन्दिर है जिसमें वह और उसके समुदाय के लोगों को कभी भी जाने नहीं दिया गया। इसीलिए नहीं कि वे धार्मिक और आध्यात्मिक प्रवृत्ति के हैं। बल्कि इसलिए कि वे उन्हें बता देना चाहते हैं कि- 'जहाँ तुमने हमें नहीं आने दिया लो अब हम वहाँ पर आ गये'। बस यही चाहते हैं। संभवतः कबीर की भी तो यही चाहत थी। भक्ति का अधिकार नहीं, मन्दिर में प्रवेश नहीं। लेकिन समानान्तर निर्गुण भक्ति परंपरा द्वारा समता का प्रवर्तन करने का प्रयास था। जिससे आत्मबल मिलता है और एक बेदखल समुदाय के लिए यह आत्मबल ऐतिहासिक अर्जित ताकत बन जाता है। संभवतः कबीर के इसी महान स्वप्न को लेखक भी कहानी में देखता है। यह एक महान स्वप्न बिम्ब है जिसमें अपने पूरे समुदाय की चाहतें और दर्द है-

"यू तो मैं मन्दिर में किसी दिन नहीं गया।
नए वर्ष के दिन सबके साथ जाता"

कितना अद्भुत स्वप्न है, 'नए वर्ष के दिन सबके साथ जाता'। यह नया वर्ष क्या है? यह है सबकी मुक्ति का दिन। जब दलित समाज मुक्त होगा। नया वर्ष तो तभी होगा न और रचनाकार अकेले नहीं जाना चाहता वहाँ- 'सबके साथ जाता'। यह है सामुदायिक चेतना। कितने बड़े सामूहिक चाहत के स्वप्न बिम्बकों लेखक ने मात्र एक पंक्ति में अभिव्यक्त कर दिया। कौन सी कलात्मकता नहीं है यहाँ। जरा इस पर गौर करें।

ऐसे कई स्थान हैं जहाँ पर अन्यायी दृश्य बिम्बों का प्रयोग सार्थक भाषा में किया है-

"मैं जहाँ, गिरा, उसके पास ही एक पत्थर पड़ा था। उस पत्थर पर एक छिपकली चिपकी थी। उसके पास एक छोटा सा कीड़ा था। अचानक छिपकली झपट पड़ी। कीड़ा छिपकली के मुँह में.....छटपटाने लगा।"

नायक को जब मन्दिर की सीढ़ियों से नीचे गिरा दिया जाता है तब वह उसी प्रकार अपने आस-पास यह दृश्य देखता है। यह एक अन्य प्रकार का बिम्ब है। इसके बाद एक अन्य स्थान पर पूरे दलित समुदाय की वेदना को तालाब के बिम्ब के माध्यम से रखा है। सभी दलित समुदाय को सार्वजनिक नलों, कुआँ, तालाबों से पानी नहीं लेने दिया जाता। इसे लेखक ने यहाँ पर रखा है। लेकिन यहाँ पर गिद्ध नहीं बल्कि सियार शब्द का प्रयोग किया है-

किसी ने कहा था, शहर में गिद्ध नहीं होते.....वहाँ तो सब बराबर हैं.....एक ही गिलास में पानी पीते हैं.....एक ही थाली में खाते.....और इसलिए मैं शहर की ओर दौड़ने लगा था.....फिर आया शेंजेलिया तालाब। मैंने तालाब के किनारे खड़े होकर देखा। अंधकार तालाब में हिलोरे मार रहा था.....मुझे उस तालाब में डुबकी मारने की इच्छा हो आई.....मैंने पानी पर हाथ फेरा कि तभी दूर से सियार की आवाज सुनायी दी.....एक कुचकुचवा की आवाज.....।

यहाँ सादृश्य बिंबों के साथ शब्दों का सार्थक उपयोग देखें। तालाब पर जा नहीं सकते लेकिन डुबकी मारने की चाहत है। एक सशक्त वाक्य विन्यास का उदाहरण देखें- "अंधकार तालाब में हिलोरे मार रहा था'। यहाँ दिन की रोशनी भी नहीं है और चाँद की

चाँदनी भी नहीं। कहीं भी किसी भी प्रकार की रोशनी नहीं पानी तक में अंधकार है। नायक बार-बार अंधकार को हटाना चाहता है- 'उस अंधकार को चीरकर मैं आगे बढ़ा'। अंदाजा लगायें कि रोशनी के लिए कितनी बैचेनी है और यह बैचेनी कोई आज की एकल बैचेनी नहीं है बल्कि यह ऐतिहासिक और सामुदायिक बैचेनी है।

इस कहानी को पढ़ते हुए हमें मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे में' अक्सर याद आती है, वहाँ भी कितने चेहरे हैं, सभी प्रगतिशील जो मुक्ति के सफर में साथ होने थे अन्यायी के साथ मिल गये। नायक लगातार भाग रहा है, कहानी के अधिकांश दृश्य बिम्ब 'अंधेरे में' के दृश्य बिम्ब, बैचेनी, कलात्मक ऊँचाई, वैचारिक गहराई और सफल प्रतीकों का प्रयोग का। इसे भी एक नयी तरह की कैंटेसी नहीं कहा जा सकता। आप कहानी के किसी भी वाक्य या शब्द पर हाथ रख दें आप झट से हाथ हटा लेंगे। एक दहकते हुए लावे से शब्द है। इस कहानी के वाक्य विन्यास और शब्द एक प्रकार से नयी कलात्मक ऊँचाई को ही नहीं छूते बल्कि उनके नये रूप में प्रयोग से नये सौन्दर्य विधान का भी निर्माण करते हैं। पर यह जब आपको तभी दिखायी देगा जब आप पारंपरिक आलोकित औजारों से किनारा कर लें-

"गिद्धों का झुंड.....
फिर तो पश्चिम दिशा से झुंड आया।
फिर तो दक्षिण दिशा से झुंड आया।
फिर तो उत्तर दिशा से झुंड आया।
फिर तो ....फिर तो.....।
कांप उठा.....

आप यहाँ गौर करें। गिद्धों का पहला झुंड पश्चिम दिशा से, फिर दक्षिण से, फिर उत्तर से.....। लेकिन पूरब दिशा का इस्तेमाल रचनाकार नहीं करता। वहाँ वह संभावनाशील बना रहता है और उम्मीद कर रहा है कि वहाँ से अपने लोग आयेंगे.....।

यहाँ फिर तो, फिर तो शब्द का प्रयोग क्या एक प्रकार की बैचेन ध्वनि का निर्माण नहीं करती? फिर आगे के वाक्यों में देखें कि कैसे शब्द हैं जो काल्पनिक नहीं हैं। किसी न किसी रूप में लेखक ऐसे हत्यारे झुण्डों का गवाह निश्चित रूप से रहा होगा -

झुण्ड के सभी गिद्धों के हाथ में भाला, पाइप .....एसिड .....नंगी तलवारें .....हॉकी स्टीक्स.....चक्कू.....अस्त्र.....।

यह एक ऐसे हिंसक, हत्यारे और पाशविक झुंड का वास्तविक बिम्ब है जो आए दिन समाज में घटित हो रहा है। ये सभी हिंसात्मक अस्त्र, शब्द कहानी को सार्थक बनाते हैं। पुरातन अस्त्रों के साथ आधुनिक अस्त्रों का प्रयोग। क्या पुरानी पीढ़ी और नयी पीढ़ी का संकेत यहाँ रचनाकार हथियारों के माध्यम से कर रहा है?

कहानी में बीच-बीच में व्यंग्य भी किया गया है। यह इतना मारक है कि यथा स्थितिवादी इसे पढ़कर एक बार को तिलमिलाए बिना नहीं रह सकता-

"इस नगर में जितने गिद्ध होंगे, उन सबको खत्म कर डाला मैंने.....।

रास्ते में मिले एक साधु।

वह भगवे वस्त्र, मुँह पर भभूत लगाये.....कपाल में एक तिलक सजाए हुए, लम्बे घुंघराले बाल.....हाथ में चिमटी कमंडल.....गले में मान खोपड़ी की माला.....आँखों में कोई अगोचर शक्ति चमकती.....। मुझे देखकर साधु रुक गए। मैंने मस्तक झुकाया।

साधु ने चिमटी वाला हाथ ऊँचा किया.....फिर जैसे गिरनार की किसी गहरी गुफा में से आए हों-।

साधु की ऐसी तस्वीर है जो ब्राह्मणवादी मूल्यों को ढो रहा है। न केवल ढो रहा है बल्कि

अपने विरोधी ताकतों का संहार भी करता जाता है। उसके गले में मानव खोपड़ी की माला है। आखिर ये कौन से मानव रहे होंगे? अंत तक आते-आते कहानी अपने पूरे मंतव्य को सशक्त शब्दों के साथ अभिव्यक्त कर देती है। सार्थक शब्द, अंत में सभी संकेत प्रतीकों को पूरी तरह स्पष्ट कर देते हैं...

"फिर तो मैं जहाँ-तहाँ पैर रखता, वहीं-वहीं गिद्ध.....अत्र-तत्र, सर्वत्र गिद्ध ही गिद्ध.....गिद्ध सड़क पर.....गिद्ध आकाश में.....गिद्ध .....गिद्ध समूह में .....गिद्ध पान की दुकान पर, गिद्ध, चाय के ठेले पर .....गिद्ध, होटल में गिद्ध बाग में, गिद्ध, स्कूल में .....गिद्ध, हास्पीटल में .....गिद्ध कॉलेज में .....।"

यानी की विशिष्ट आदमी से लेकर आम आदमी तक में गिद्धों ने अपना स्थान बना लिया है। शिक्षण संस्थानों से लेकर हॉस्पीटल, रेलवे स्टेशन, बस, खिड़की, पानी, राशन की दुकान.....सब जगह गिद्ध ही गिद्ध है। इससे मुक्ति कैसे हो। इसी चिंता पर उसकी कहानी समाप्त होती है। यह बहुत ही गहरी चिंता है। यह पूरे समाज समुदाय और देश की चिंता है। यह नया सौन्दर्य विधान है। दलित समुदाय की मुक्ति, चाहतों और स्वप्न का सौन्दर्य विधान।

9.8 सारांश

प्रस्तुत कहानी में हमने देखा कि कैसे रचनाकार ने भारतीय समाज व्यवस्था के जातिवादी स्वरूप का उद्घाटन किया है। कहानी में आये बेमेल प्रतीकों के द्वारा जाति व्यवस्था के क्रूर नखदंतों, हिंसक प्रवृत्तियों और शोषण के स्वरूप को दिखाया है। तथाकथित उच्च वर्ग यह कभी भी नहीं चाहता कि दलित समुदाय को दासता से मुक्ति मिले। वह एक इंसान के रूप में समाज में अपनी पहचान बनाये। वह अपने अधिकारों और मानवीय गरिमा के लिए आवाज बुलन्द करें। बल्कि वह अगर चुप रहकर इस ब्राह्मणवादी व्यवस्था के शोषण को सहता रहे तो उचित है लेकिन अगर उसने जरा भी विद्रोह करने की कोशिश की तो उसका हश्र अच्छा न होगा।

गिद्धानुभूति कहानी एक ऐसे दलित नायक की कहानी है जो इस ब्राह्मणवादी व्यवस्था के सारे कुचक्रों और षडयंत्रों को पहचान चुका है। उसके पास एक नजरिया और दृष्टि आ चुकी है। उसने अब 'कर्मफल'' के सिद्धांत को नकार कर अपने इंसान होने की पगध्वनि सुना दी है। उस नायक पर न तो अब धर्म का डर दिखाया जा सकता है और न ही उसे मन्दिर में जाने से रोका जा सकता है। उसमें मुक्ति की छटपटाहट और बैचेनी बहुत गहरी है। उसने स्वप्न देखने शुरू कर दिये हैं और वह अब उन्हें पूरा भी करना चाहता है। इस कहानी में शोषक तबके के सभी कुचक्रों और षडयंत्र को दिखाया गया है जिसका प्रतीक है गिद्ध। दूसरी तरफ सियार, कुत्ते, चौकीदार, शहर, चायवाला, स्त्री, साधु, पुलिसवाला, मन्दिर का पुजारी, देवी, सभी इस ब्राह्मणवादी विचारधारा का पोषण करने में लगे हैं। सभी अन्यायी शक्तियों के साथ मिल गये हैं या उन्हें पैसे का लालच देकर या ताकत के बल पर मिला लिया गया है। रचनाकार ने सभी का विश्लेषण बहुत गहराई के साथ किया है।

इस पूरी कहानी में नायक एक विश्लेषणकर्ता की भूमिका में है। वह मोहल्ले से गाँव, गाँव से शहर, और शहर से पुनः गाँव में लौट आता है। जैसे उसने एक पूरा चक्कर लगाकर शोषणकारी संस्थानों को चिन्हित किया है। लेखक ने पूरी कहानी में प्रतीकात्मक बिंबों और भाषा का सहारा लेकर पूरी व्यवस्था का विश्लेषण किया है। निश्चित रूप से यह कहानी अपने कश्य में ही नहीं बल्कि शिल्प में भी महान है। इस कहानी के कश्य ने शिल्प को गढ़ा है इसीलिए इसमें व्यापकता और गहराई आ गई है। दशरथ परमार दलित साहित्य में अपनी प्रयोग धार्मिता के लिए अलग से पहचाने जाते हैं।

खंड के प्रश्न

1. मराठी दलित साहित्य को दिशा देने वाले प्रसिद्ध कहानीकार बाबुराव बागूल के योगदान को स्पष्ट कीजिए।
2. दलित साहित्य संबंधी बाबूराव बागूल की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
3. 'जब मैंने जाति छुपाई' कहानी दलित जीवन के अनुभव और सामाजिक सच्चाई का दस्तावेज है। कथन की पुष्टि कीजिए।
4. 'जब मैंने जाति छुपाई' कहानी में अभिव्यक्त वेदना और विद्रोह को चिन्हित कीजिए।
5. 'जब मैंने जाति छुपाई' कहानी के प्रमुख चरित्र काशीनाथ सपकाल पर टिप्पणी लिखिए।
6. 'जब मैंने जाति छुपाई' कहानी में अभिव्यक्त जातिभेद की जटिलता को उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।
7. 'बुद्ध ही मरा पड़ा है' कहानी में नवजाग्रत दलित समाज के अन्तर्विरोध किस तरह प्रस्तुत हुए हैं? स्पष्ट करें।
8. दलित साहित्य–आंदोलन में अर्जून डांगळे के योगदान को स्पष्ट कीजिए।
9. 'बुद्ध ही मरा पड़ा है' दलित राजनीति और अवसरवाद की प्रखर आलोचना है। उदाहरण सहित स्पष्ट करें।
10. 'बुद्ध ही मरा पड़ा है' कहानी के अशोक के चरित्र पर टिपप्णी लिखिए।
11. 'बुद्ध ही मरा पड़ा है' कहानी के माध्यम से दलित जातियों में धर्म परिवर्तन से हुए सामाजिक, सांस्कृतिक तथा वैचारिक बदलाव का मूल्यांकन कीजिए।
12. 'कवच' कहानी की मूल वस्तु और संवेदना स्पष्ट कीजिए।
13. 'कवच' कहानी में दलित स्त्री के तिहरे शोषण को उजागर किया गया है। सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।
14. पितृसत्तात्मक सामंती पुरुषों को मुंहतोड़ जवाब देकर धराशायी करनेवाली श्रमिक स्त्री के अस्मितामूलक पहलुओं को 'कवच' कहानी के माध्यम से स्पष्ट कीजिए।
15. 'कवच' कहानी का बाल चरित्र 'गौन्या' के मानसिक द्वंद्व पर टिप्पणी लिखिए।
16. 'कवच' कहानी की भाषा और शिल्प पर टिप्पणी लिखिए।
17. गुजराती दलित साहित्य के वैचारिक आधारों को स्पष्ट कीजिए।
18. 'रोटले को नजर लग गई' कहानी में शिक्षा संस्थानों में दलित बच्चों के होने वाले शोषण और मानसिक उत्पीड़न को अभिव्यक्त किया है। सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।
19. 'रोटले को नजर लग गई' कहानी में अभिव्यक्त बाल मनोविज्ञान को स्पष्ट कीजिए।
20. गुजराती दलित कहानी की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालिए।
21. 'रोटले को नजर लग गई' कहानी में अभिव्यक्त सामाजिक अंतर्विरोधों को विश्लेषित कीजिए।
22. 'रोटले को नजर लग गई' कहानी के चरित्र रघु की मनोदशा पर टिप्पणी लिखिए।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

उत्तरशती के विमर्श और हाशिए का समाज, चौथीराम यादव, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा. लि., दरियागंज, नई दिल्ली।

दलित साहित्य और मुख्य धारा, ओम प्रकाश वाल्मीकि, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

दलित साहित्य : आज का क्रांति विज्ञान, बाबूराव बागूल, दीक्षा प्रकाशन, नागपुर।

दलित साहित्य : वेदना और विद्रोह, भालचंद्र फडके, सुगावा प्रकाशन, पुणे।

दलित साहित्य : वेदना और विद्रोह, अर्जुन डांगळे, लोकवाङमय गृह, पुणे।

दलित साहित्य : दशा और दिशा, अर्जुन डांगळे, मराठी साहित्य और संस्कृति मंडल, मुंबई।

दलित कहानी संचयन, संपादक – रमणिका गुप्ता, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली।

मराठी दलित कविता और साठोत्तरी हिंदी कविता में सामाजिक और राजनीतिक चेतना, डॉ. विमल थोरात, हिंदी बुक सेंटर, नई दिल्ली।

दलित साहित्य : वेदना और विद्रोह, शरण कुमार लिंबाळे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

दलित चेतना : साहित्यिक एवं सामाजिक सरोकार, रमणिका गुप्ता, समीक्षा प्रकाशन, नई दिल्ली।

दलित चेतना, (सचेतना पत्रिका का दलित विशेषांक), संपादक – महिप सिंह, चंद्रकांत बांदिवाडेकर, नवलेखन प्रकाशन, नई दिल्ली।

युद्धरत आम आदमी (पत्रिका का दलित चेतना – गुजराती दलित साहित्य विशेषांक), संपादक – रमणिका गुप्ता, रमणिका फाउंडेशन, नई दिल्ली।

गुजराती साहित्य में दलित कलम, संपादक – हरिश मंगलम, गुजराती दलित साहित्य अकादमी, अहमदाबाद।

दलित अस्मिता, संपादक – विमल थोरात, भारतीय दलित अंध्ययन संस्थान, नई दिल्ली।